

तुलसी प्रज्ञा

TULASĪ-PRAJÑĀ

QUARTERLY RESEARCH JOURNAL

OF ANEKĀNTA ŚODHA-PĪṬHA, JAIN VISHVA BHĀRATĪ

खण्ड १६

सितम्बर, १९६०

अङ्क २



अनेकांत शोध-पीठ

जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

धर्म और दर्शन*

□ आचार्य श्री तुलसी

धर्म और दर्शन ये दो शब्द हैं। प्रश्न है, धर्म और दर्शन एक हैं या दो ? धर्म क्या है ? दर्शन क्या है ? महापुरुषों ने अनुभव की आंख से जिसका साक्षात् किया, वह दर्शन है। उन्होंने वाणी से जो रास्ता बतलाया, वह धर्म है।

जैन-दर्शन क्या है ? जिन भगवान् ने आत्म-साक्षात्कार के स्तर पर जो देखा, वह दर्शन है। जिन का दर्शन जैन-दर्शन है। 'जिन' किसी का नाम नहीं है। यह गुणात्मक शब्द है। जो वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, वे जिन हैं। जितने तीर्थंकर/केवली हुए हैं, वे सब जिन हैं। हमारे जिन/तीर्थंकरों की अनुभूतियां ही जैन-दर्शन है।

इसी तरह बुद्ध की वाणी बौद्ध-दर्शन कहलाती है। वेदों पर आधृत दर्शन वैदिक-दर्शन कहलाता है। वेद क्या है ? वेद ग्रन्थ हैं। वैदिक लोगों के मतानुसार वेद किसी मनुष्य द्वारा रचित नहीं हैं, सहज हैं। भगवान् के मुख की वाणी हैं। इसी क्रम में मुहम्मद साहब का दर्शन इस्लाम-दर्शन और क्राइस्ट का दर्शन ईसाई-दर्शन कहलाता है। जब भी कोई पुरुष द्रष्टा बनेगा, साक्षात्कार करेगा, उसकी वाणी दर्शन बन जाएगी।

धर्म दर्शन के द्वारा निदिष्ट मंजिल को पाने का रास्ता है। सत्य का आचरण धर्म है। अहिंसा का आचरण धर्म है। संक्षेप में कह सकते हैं, दर्शन हमारे लक्ष्य का निर्धारण करता है। धर्म हमें उसे पाने का रास्ता बतलाता है।

हम जैन-दर्शन और धर्म के प्रति आस्थाशील हैं। यद्यपि आस्था बहुत ऊंचा तत्त्व है, पर मजिल तक पहुंचने के लिए वह पर्याप्त नहीं है। आस्था के साथ-साथ तत्त्व की जानकारी भी अपेक्षित है।

भगवान् सिर्फ मार्ग बतलानेवाले हैं, चलना हमें स्वयं होगा। भगवान् ने सत्य तक पहुंचने का मार्ग बता दिया है। अब हम अपने विवेक और पुरुषार्थ का उपयोग करें। 'अल्पणा सच्चमेसेज्जा'—आत्मा से स्वयं सत्य का अन्वेषण करो; महावीर का अन्तिम मत मानो। यह संदेश इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करता है कि साधना के क्षेत्र में व्यक्ति स्वयं खोज करे। क्योंकि वह मनुष्य है, चेतन है विवेकशील है। वह भित्तिचित्र नहीं है।

हम प्रतिक्षण इस बात का अनुभव करते हैं कि हमारी चेतना सक्रिय है। इसलिए हमें सत्य खोजते रहना है। अनन्त सत्य के साक्षात्कार का यही मार्ग है।

* 'प्रवचन पाथेय' (सन् १९७५-७६) के प्रवचन से साभार

दुर्लभा प्रज्ञा

प्रधान-सम्पादक

डॉ. नथमल टाटिया

सम्पादक

डॉ. मंगल प्रकाश मेहता



अनेकांत शोध-पीठ

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
१. समणी कुसुमप्रज्ञा : उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन	१
२. डॉ० के० आर० चन्द्र : प्राकृत व्याकरण में प्रयुक्त मध्यवर्ती प और व की परीक्षा	८
३. डॉ० रज्जन कुमार : पृथ्वीकाय : एक विवेचन	११
४. नंदलाल जैन : जैन शास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य विचार	२०
५. डॉ० परमेश्वर सोलंकी : 'त्रिलोकसार' का कल्की राजा और यूनानी लेखकों का सैण्ड्राकोटस क्या एक हैं ?	३५
६. चन्द्रकांत बाली, उपेन्द्रनाथ राय : सुमतित्र का शकराजा और उसका कालमान (प्रतिक्रियाएं)	४०
7. <i>Muni Mahendra Kumar : Theory of Relativity and Space-Time</i>	52
8. <i>Dr. (Mrs.) Ratna Purohit : New Dimensions in Yoga Philosophy</i>	63
9. <i>Jagat Ram Bhattacharyya : Some Problems of Māgadhī Dialect</i>	66

आजीवन शुल्क : ₹० ५०१-००

वार्षिक शुल्क : ₹० ३५.००

इस अङ्क का मूल्य : ₹० २०.००

नोट—यह आवश्यक नहीं है कि इस अंक में प्रकाशित लेखों में उल्लिखित विचार सम्पादक अथवा संस्था को मान्य हों।

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

□ समणी कुसुमप्रज्ञा

उत्तराध्ययन अर्धभागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध आचार प्रधान आगम है। इसमें साधु के आचार एवं तत्त्वज्ञान का सरल एवं सुबोध शैली में वर्णन किया गया है। जार्ज शार्पेन्टियर, डा० गेरिनो, विटरनिस्, हर्मनजेकोवी आदि विद्वानों ने इसे आगम की सूची में ४१ वां आगम ग्रन्थ माना है। इसकी गणना मूलसूत्रों में की गई है। शार्पेन्टियर तथा प्रो० पटवर्धन के अनुसार इसमें महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है, इसलिए इसे मूलसूत्र (Original-Text) कहा गया है। किंतु यह कथन युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि दशवैकालिक मूलसूत्र के अन्तर्गत है, किंतु आचार्य शय्यंभव द्वारा प्रतिपादित है। डा० शूर्निग ने प्रारंभिक साधु जीवन के मूलभूत नियमों का प्रतिपादक होने के कारण इसे मूलसूत्र कहा है। फ्रांसीसी विद्वान् प्रो० गंरिनो के अनुसार इस सूत्र पर अनेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गईं इसलिए इसे मूलसूत्र कहा गया। जैन-तत्त्व-प्रकाश में उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ सम्यक्त्व की जड़ को मजबूत बनाता है, इसलिए इसे मूलसूत्र कहा गया है।

चूर्णिकालीन श्रुतपुरुष की मूल स्थापना में आचारांग और सूत्रकृतांग का स्थान था। उत्तरकालीन श्रुतपुरुष के मूलस्थान में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आ गए। इन्हें मूलसूत्र मानने का यही सर्वाधिक संभावित हेतु है, ऐसा आचार्य श्री तुलसी का मतव्य है।

मूलतः आगमों का अध्ययन उनसे प्रारम्भ होता है तथा उसमें मुनि के मूलगुणों-महाव्रत, समिति आदि का निरूपण है, अतः ये मूल सूत्र कहलाते हैं।

मूलसूत्र की संख्या एवं उनके नामों के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है किंतु उत्तराध्ययन को सभी ने एकस्वर से मूलसूत्र माना है। कुछ लोग उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक—इन तीनों को ही मूलसूत्र के रूप में स्वीकृत करते हैं। विटरनिस् ने इन तीनों के अतिरिक्त पिंडनिर्युक्ति को और ग्रहण किया है। कुछ मान्यताओं के अनुसार पिंडनिर्युक्ति, ओधनिर्युक्ति सहित पांच मूलसूत्र स्वीकृत हैं। कहीं-कहीं आवश्यक को भी मूलसूत्र के अन्तर्गत परिगणित किया है। तेरापंथ की मान्यताओं के अनुसार दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नंदी और अनुयोगद्वारा इन चार सूत्रों को मूलसूत्र के अन्तर्गत स्वीकृत किया गया है। मूलसूत्र का विभाजन विक्रम की ११ वीं-१२ वीं शताब्दी के बाद हुआ है ऐसा अधिक संभव लगता है क्योंकि उत्तराध्ययन की चूर्णि एवं टीका में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है।

मूलसूत्रों की संख्या की भांति उसके क्रम में भी अंतर मिलता है। जैन साहित्य के बृहद् इतिहास में निम्न क्रम मिलते हैं।^१

१. उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक।
२. उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिडनिर्युक्ति।
३. उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति।
४. उत्तराध्ययन, आवश्यक, पिडनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति, दशवैकालिक।

उत्तराध्ययन का परिगणन धर्मकथानुयोग में किया गया है। किंतु आचार का प्रतिपादन होने से चरणकरणानुयोग तथा दार्शनिक विवेचन होने से द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत भी इसको रखा जा सकता है। दिगम्बर साहित्य में अंगबाह्य के १४ प्रकारों में सातवां दशवैकालिक और आठवां उत्तराध्ययन का स्थान है। नंदीसूत्र में कालिक-सूत्रों की गणना में पहला स्थान उत्तराध्ययन तथा उत्कालिक की गणना में पहला स्थान दशवैकालिक का है।

नंदी में “उत्तरज्ज्ञयणाणि” यह बहुवचनात्मक नाम मिलता है। उत्तराध्ययन के अंतिम श्लोक तथा निर्युक्ति में भी ‘उत्तरज्ज्ञाए’ ऐसा बहुवचनात्मक नाम मिलता है। चूर्णिकार ने छत्तीस उत्तराध्ययनों का एक श्रुतस्कंध (एक ग्रन्थ रूप) स्वीकार किया है। इस बहुवचनात्मक नाम से यह फलित होता है कि उत्तराध्ययन अध्ययनों का योग मात्र है, एककर्तृक ग्रन्थ नहीं।

उत्तराध्ययन सूत्र में तीन शब्दों का प्रयोग है—उत्तराध्ययन और उत्तर शब्द के अर्थ के बारे में विद्वानों में काफी विचार भेद है। उत्तरशब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं— १. प्रधान, २. जवाब, ३. परवर्ती। हरिभद्र के अनुसार यहां उत्तर शब्द का प्रयोग प्रधान या अति प्रसिद्ध अर्थ में हुआ है।^२ प्रो० जेकोबी, बेबर तथा शार्पेन्टियर ने भी इसी तथ्य का उल्लेख किया है। इसके विपरीत “उत्तरकांड”, “उत्तररामायण”, “उत्तरखंड”, उत्तरग्रन्थ आदि नामों की लंबी सूची मिलती है। जिसमें उत्तर शब्द का अर्थ परवर्ती या अन्तिम अर्थ में हुआ है।

उत्तराध्ययन के निर्युक्तिकार ने उत्तरशब्द के १५ निक्षेप किए हैं। निर्युक्ति के अनुसार यह आचारांग सूत्र के बाद पढ़ा जाता था अतः इसका नाम उत्तराध्ययन पड़ा।^३ टीकाकर शांत्याचार्य ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि दशवैकालिक की रचना के बाद यह सूत्र दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा।^४ जेकोबी उत्तर शब्द के इसी अर्थ से सहमत हैं।^५ प्रो० लायमन के अनुसार आचारांग आदि ग्रन्थों के उत्तरकाल में रचा होने के कारण यह उत्तराध्ययन कहा जाता है।

उत्तर शब्द का प्रयोग परवर्ती या अन्तिम अर्थ में हुआ है, अतः शार्पेन्टियर ने उत्तराध्ययन का अर्थ किया है अन्तिम अध्याय। जैन परम्परा में यह मान्यता भी बहुत प्रसिद्ध है कि महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व ५५ अध्ययन पुण्य-पाप के तथा छत्तीस अपट्टुवागरणाईं अर्थात् बिना पूछे ३६ प्रश्नों के उत्तर दिए। अतः विद्वानों का यह कथन है कि यह छत्तीस अपट्टुवागरणाईं शब्द उत्तराध्ययन से ही संबंधित होना चाहिए क्योंकि जैन परम्परा में कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जिसके ३६ अध्ययन हों। इस कथन

की पुष्टि में शार्पेन्टियर आदि विद्वान् उत्तराध्ययन की अंतिम गाथा को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं कि महावीर उत्तराध्ययन का कथन करते हुए परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ।

इउ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिब्बुए ।

छत्तीसं उत्तरज्जाए, भवसिद्धीय सम्मए ॥ (उ० ३६।२६८)

किन्तु इस कथन की सत्यता में संदेह है । विद्वानों की मान्यता है कि उत्तराध्ययन के महत्त्व को प्रकट करने के लिए बाद में उपरोक्त गाथा जोड़ दी गई है ।

टीकाकार शान्त्याचार्य उत्तराध्ययन को महावीर निर्वाण के अंतिम उपदेश के रूप में मानने को तैयार नहीं हैं । अतः उन्होंने परिनिब्बुए का अर्थ स्वस्थीभूत किया है । उत्तर शब्द पूर्व सापेक्ष है । चूणिकार ने प्रस्तुत अध्ययनों की तीन प्रकार से योजना की है ।

१. स उत्तर—पहला अध्ययन
२. निरुत्तर—छत्तीसवां अध्ययन
३. सउत्तर निरुत्तर—बीच के सारे अध्ययन ।

दिगम्बर आचार्यों ने भी उत्तर शब्द की अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्या की है । घवलकाकार के अनुसार उत्तराध्ययन उत्तरपदों का वर्णन करता है । यहाँ उत्तर शब्द समाधान सूचक है ।^१ अंगपण्णत्ति में उत्तर के दो अर्थ हैं—१. किसी ग्रन्थ के पश्चात् पढ़ा जाने वाला २. प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन ।

उत्तर के बाद दूसरा शब्द अध्ययन है । यद्यपि अध्ययन शब्द सामान्यतया पढ़ने के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में इसका प्रयोग परिच्छेद प्रकरण और अध्याय के अर्थ में हुआ है । निर्युक्तिकार एवं टीकाकार शान्त्याचार्य ने इस शब्द पर निर्युक्ति आदि की दृष्टि से काफी विमर्श किया है । किन्तु इसका मूल अर्थ परिच्छेद या अध्याय के लिए ही हुआ है ।

सूत्र शब्द का सामान्य अर्थ है—जिसमें शब्द कम तथा अर्थ विपुल हो । जैसे—पातञ्जल योगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि । उत्तराध्ययन सूत्र में परम्परागत मान्यताओं के विपरीत सूत्ररूपता का अभाव है तथा विस्तार अधिक है । यद्यपि आत्मारामजी ने अनेक उद्धरणों के माध्यम से इसे सूत्रग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु सामान्यव्यवहार में प्रयुक्त सूत्र शब्द का लक्षण इस ग्रन्थ में घटित नहीं होता है । शार्पेन्टियर का भी मानना है कि सूत्र शब्द का प्रयोग इसके लिए सटीक नहीं हुआ है क्योंकि विधिविधान, दर्शनग्रंथ तथा व्याकरण आदि ग्रंथों में सूत्रात्मक शैली अपनाई जाती है । ऐसा अधिक संभव लगता है कि वैदिक परम्परा में सूत्र शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित था । जैनों ने भी परम्परा में सूत्रात्मक शैली न होते हुए भी ग्रंथ के साथ सूत्र शब्द जोड़ दिया ।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह ग्रंथ किसी एक कर्ता की कृति नहीं किन्तु यह संकलन ग्रंथ है । उनके अनुसार इसके कर्तृत्व को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है । 'अंगपण्णत्ति जिणभासिया च पत्तेयबुद्ध संवाया' ।

१. अंगप्रभवः—दूसरा अध्ययन (परीह्यविभक्ती)
२. जिनभाषितः—दसवां अध्ययन (दुमपत्तयं)
३. प्रत्येक बुद्ध भाषितः—आठवां अध्ययन (काविलीयं)
४. संवाद समुत्थितः—नवां और तेईसवां अध्ययन (नमिपव्वज्जा)

वादिदेव शांतिसूरि ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि उत्तराध्ययन सूत्र का दूसरा अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है। द्रुमपुष्पिका नामक दसवां अध्ययन महावीर द्वारा प्ररूपित है। कापिलीय नामक आठवां अध्ययन प्रत्येकबुद्ध कपिल ने प्रतिपादित किया है तथा केशिगौतमीय नामक तेईसवां अध्ययन संवाद रूप में प्रतिपादित है। (उर्शांटी ५५:६) यद्यपि उत्तराध्ययन में सभी अध्ययनों की विषय वस्तु बहुत व्यवस्थित और सुनियोजित है फिर भी यह आशंका होती है कि क्या सभी अध्ययन एक व्यक्ति द्वारा निरूपित हैं। इस प्रश्न के समाधान में जेकोबी का मतव्य है कि इस ग्रंथ में अभिव्यक्ति की भिन्नता है। शैली की भी भिन्नता है। एक लेखक की कृति में ऐसा नहीं हो सकता। पर ये सब कब रचे गए, इसका व्यवस्थित रूप कब बना, यह कहना कठिन है। किंतु वे अपनी मान्यता प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि इसका अधिकांश भाग बहुत पुराना है।

कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तराध्ययन के प्रथम १८ अध्ययन प्राचीन हैं तथा उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन। किंतु इस मत की पुष्टि का कोई सबल प्रामाण नहीं है। किंतु इतना निश्चित है कि इसके कई अध्ययन प्राचीन हैं तथा कई अर्वाचीन।

आचार्य श्री तुलसी के मतव्यानुसार उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईसवी सन् ४०० लगभग हजार वर्ष की धार्मिक एवं दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा वीरनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद देवर्धगणी ने प्राचीन एवं अर्वाचीन अध्ययनों का संकलन कर इसे एकरूप कर दिया। इन सब तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि यह संकलनसूत्र है, एक कर्तृक नहीं। इसका प्रवचन भी किसी एक काल में न होकर विभिन्न समयों में हुआ है। बिटरनित्स इसी मत से सहमत हैं। कुछ अंश बाद-में स्थविरों द्वारा जोड़े गए हैं। इसका प्रमाण है 'केशिगौतमीय अध्ययन'। महावीर स्वयं अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करते। दूसरी बात सम्यक्त्व पराक्रम में जो प्रश्नोत्तर हैं वे अंगसूत्रों की प्रश्नोत्तर शैली से बिलकुल भिन्न हैं। जार्ज शार्पेन्टियर का अभिमत है कि यह प्रारम्भ में मूल रूप से बौद्ध ग्रंथ धम्मपद और सुत्तनिपात के समान था। प्रारम्भ में संभवतः इसमें सैद्धान्तिक विषयों का प्रतिपादन करने वाले अध्ययन नहीं थे। केवल संन्यासी जीवन की दिव्यता एवं अनेक आधार से सम्बन्धित धार्मिक कथाएं संकलित थीं। कालान्तर में यह अनुभव किया गया कि इसमें धार्मिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक विषयों का और समावेश किया जाए। अतः परवर्ती काल में इसमें सैद्धान्तिक, दार्शनिक आदि विषय जोड़े दिए गए।

कुछ विद्वानों की अभिधारणा है कि उत्तराध्ययन में शुद्ध सैद्धान्तिक विषयों का प्रतिपादन करने वाला गद्य भाग अपेक्षाकृत अर्वाचीन और शेष भाग प्राचीन है।

उत्तराध्ययन के दसवें अध्ययन तथा कल्पसूत्र, हरिवंशपुराण, त्रिषष्टिशलाका

पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थों के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि इसके कम-से-कम कुछ अंशों के व्याख्याता महावीर रहे हैं। किंतु परिवर्तन एवं परिवर्धन का क्रम महावीर निर्वाण से प्रारम्भ होकर बलभी वाचना के समय तक चलता रहा।

रचनाकाल

उत्तराध्ययन का उल्लेख दिगम्बर ग्रंथों में आदर के साथ उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि संघभेद होने से पूर्व ही यह एक साथ ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। अन्यथा दिगम्बर परम्परा में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

शांत्याचार्य के अनुसार दशवैकालिक की रचना के बाद यह दशवैकालिक के बाद पढ़ा जाने लगा। इस बात से स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन की रचना दशवैकालिक से पूर्व हो चुकी थी।^{१०} दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभव सूरि हैं जिनका समय वीर निर्वाण के ७५ वर्ष बाद माना जाता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन की प्राचीनता एक ओर तो महावीर निर्वाण काल तक जा पहुँचती है तो दूसरी ओर ऐसे भी उल्लेख हैं जिससे उत्तराध्ययन के अध्ययनों की परवर्तिता सिद्ध होती है। इस सूत्र में वर्णित जातिवाद, दासप्रथा, यज्ञ एवं तीर्थस्थान आदि का वर्णन प्राचीनता के द्योतक हैं।

अध्ययन एवं विषयवस्तु

उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन हैं तथा १६३८ श्लोक हैं। इसके प्रत्येक अध्ययन अपने आप में पूरे हैं और उनमें आपस में कोई सम्बन्ध परिलक्षित नहीं होता। समवायांग में जिन ३६ अध्ययनों का नामोल्लेख मिलता है वे वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन के अध्ययनों के नामों से कुछ भिन्न हैं। नामों की भिन्नता होने पर भी विषयगत भिन्नता नहीं है। निर्युक्तिकार द्वारा निर्दिष्ट नामों में भी कुछ वैषम्य दिखाई देता है।

नाम

उत्तराध्ययन	निर्युक्तिकार	समवाओ
१. विनयश्रुत	१. विनयश्रुत	१. विनयश्रुत
२. परीषहप्रविभक्ति	२. परीषह	२. परीषह
३. चातुरंगीय	३. चतुरंगीय	३. चातुरंगीय
४. असंस्कृत	४. असंस्कृत	४. असंस्कृत
५. अकाभमरणीय	५. अकाभमरण	५. अकाभमरणीय
६. क्षुल्लक निग्रंथीय	६. निग्रंथ	६. पुरुषविद्या
७. उरभ्रीय	७. औरभ्र	७. औरभ्रीय
८. कापिलीय	८. कापिलीय	८. कापिलीय
९. नमिप्रन्नज्या	९. नमिप्रन्नज्या	९. नमिप्रन्नज्या
१०. द्रुमपत्रक	१०. द्रुमपत्रक	१०. द्रुमपत्रक
११. बहुश्रुतपूजा	११. बहुश्रुतपूजा	११. बहुश्रुतपूजा

खण्ड १६, अंक २ (सित०, ६०)

५

१२. हरिकेशीय	१२. हरिकेश	१२. हरिकेशीय
१३. चित्रसंभूति	१३. चित्रसंभूति	१३. चित्रसंभूत
१४. इषुकारीय	१४. इषुकारीय	१४. इषुकारीय
१५. सभिक्षुक	१५. सभिक्षुक	१५. सभिक्षुक
१६. ब्रह्मचर्यसमाधि स्थान	१६. समाधिस्थान	१६. समाधिस्थान
१७. पापश्रमणीय	१७. पापश्रमणीय	१७. पापश्रमणीय
१८. संजतीय	१८. संजतीय	१८. संजतीय
१९. मृगापुत्रीय	१९. मृगचारिका	१९. मृगचारिका
२०. महानिर्ग्रथीय	२०. निर्ग्रथीय	२०. अनाथप्रव्रज्या
२१. समुद्रपालीय	२१. समुद्रपालीय	२१. समुद्रपालीय
२२. रथनेमीय	२२. रथनेमीय	२२. रथनेमीय
२३. केशिगौतमीय	२३. केशिगौतमीय	२३. गौतमकेशीय
२४. प्रवचनमाता	२४. सभिति	२४. सभिति
२५. यज्ञीय	२५. यज्ञीय	२५. यज्ञीय
२६. सामाचारी	२६. सामाचारी	२६. सामाचारी
२७. खलुंकीय	२७. खलुंकीय	२७. खलुंकीय
२८. मोक्षमार्गगति	२८. मोक्षगति	२८. मोक्षमार्गगति
२९. सम्यक्त्वपराक्रम	२९. अप्रमाद	२९. अप्रमाद
३०. तपोमार्गगति	३०. तप	३०. तपोमार्ग
३१. चरणविधि	३१. चरण	३१. चरणविधि
३२. प्रमादस्थान	३२. प्रमादस्थान	३२. प्रमादस्थान
३३. कर्मप्रकृति	३३. कर्मप्रकृति	३३. कर्मप्रकृति
३४. लेश्याध्ययन	३४. लेश्या	३४. लेश्याध्ययन
३५. अनगारमार्गगति	३५. अनगारमार्ग	३५. अनगारमार्ग
३६. जीवाजीवविभक्ति	३६. जीवाजीवविभक्ति	३६. जीवाजीवविभक्ति

जेकोबी की मान्यता है कि उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग में समानता है। किंतु उत्तराध्ययन विस्तार से एवं निपुणता से रचा गया है। इसकी विषय वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

१. मुनि को अपनी मूलचर्या का अवबोध देना।
२. उदाहरणों एवं घटनाओं द्वारा मुनि जीवन को यशस्वी बनाना।
३. अभ्यात्मपथ में आने वाले खतरों से मुनि को अवगत कराना।
४. मुनि को जैन सिद्धान्तों की संक्षिप्त जानकारी देना।

भाषा शैली

इसकी मूल भाषा अर्धमागधी प्राकृत है परन्तु कहीं-कहीं महाराष्ट्री प्राकृत के प्रयोग भी बहुलता से मिलते हैं। इसमें व्याकरण सम्बन्धी विशिष्ट प्रयोग भी मिलते

हैं जो आज भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें सूक्त और सुभाषितों का बहुलता से प्रयोग हुआ है। विटरनित्स ने इसे श्रमण काव्य की कोटि में रखा है।

इस ग्रंथ की शैली अन्य आगमों की भांति जटिल एवं समासप्रधान नहीं है अपितु सुबोध और सरस है। उत्तराध्ययन की भाषा कितनी प्राचीन है तथा कितनी अर्वाचीन है इसकी विस्तृत चर्चा शार्पेन्टियर, जेकोबी और विटरनित्स आदि विद्वानों ने की है। इसमें संवादात्मक शैली में गंभीर अर्थ का प्रतिपादन है। २३ वां और २६ वां अध्ययन भाषा की दृष्टि से प्राचीन लगता है।

अन्य ग्रंथों से तुलनीय प्रसंग

उत्तराध्ययन में अनेक ऐसे स्थल, प्रसंग, कथानक या गाथाएँ हैं जो उसी रूप में या परिवर्तन के साथ बौद्ध एवं वैदिक साहित्य विशेषकर महाभारत में मिलती हैं। किञ्चित्त इस प्रकार के अनेक प्रसंगों की तुलना विटरनित्स, हर्मन जेकोबी, ल्यूमेन तथा जालेशार्पेन्टियर आदि विद्वानों ने की है। धम्मपद से इसके अनेक पद्य तुलनीय हैं। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर ग्रंथ मूलाचार में भी इसके विषय में साम्य है। उत्तराध्ययन में द्रव्य, गुण, पर्याय की परिभाषाएँ हैं। इसकी तुलना क्रमशः वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म से की जा सकती है।

राजा नमि की कथा बौद्ध और वैदिक दोनों परम्पराओं में मिलती है। हरिवंश मुनि की कथा कुछ अंतर के साथ बौद्धों के मातंग जातक में मिलती है। इस अध्ययन की अनेक गाथाएँ भी तुलनीय है। चित्रसंभूत कथा तथा इषुकार कथा की तुलना क्रमशः चित्रसंभूत जातक तथा हृत्विपाल जातक से की जा सकती है। रथनेमीय अध्ययन में श्रीकृष्ण का वर्णन वैदिक साहित्य से तुलनीय है। मृगापुत्र की कथा भी बौद्ध साहित्य में मिलती है।

संदर्भ :

१. जैन तत्त्व प्रकाश, पृ० ४३
२. नंदी टीका, पृ० ७२
३. उनि ३; कम उत्तरेण पगयं आघारएसेव उवरिगाइं तु । तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति नायत्वा ॥ उ. चूर्ण
४. उशांटी प ५; आरतस्तु दशबैकालिकोत्तरकालं.....इति
५. सेक्रेट बुक्स आफ द इस्ट
६. घबला, पृ० ८७
७. उशांटी प ५



प्राकृत व्याकरण में प्रयुक्त मध्यवर्ती प और व की परीक्षा

□ डॉ० के० आर० चन्द्र*

प्राकृत व्याकरणकारों ने मध्यवर्ती पकार और वकार के सम्बन्ध में ध्वनि-परिवर्तन के जो नियम दिये हैं वे शिलालेखों और साहित्य में कहां तक औचित्य रखते हैं उसी का यहां अध्ययन किया जा रहा है। इस विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट होगा कि साहित्य और व्याकरण में कितना अन्तर है।

मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों (टवर्ग के सिवाय) के प्रायःलोप के विषय में हेमचन्द्र का सूत्र इस प्रकार है :—

कगच्चजतदपयवां प्रायो लुक् (द-१.१७७)

इस सूत्र से स्पष्ट है कि अन्य अल्पप्राण व्यंजनों की तरह पकार का भी प्रायःलोप होता है।

इस सूत्र के पश्चात् अन्य स्थल पर पकार के विषय में जो सूत्र दिया गया है वह इस प्रकार है—

पो वः (द.१.२३१)

इस सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि पकार का प्रायः वकार होता है। सूत्र की वृत्ति इस प्रकार है—

स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः पस्य प्रायो वो भवति ।

ये दोनों सूत्र क्या एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं ? इन दोनों का समाधान वृत्ति में इस प्रकार किया गया है—

एतेन पकारस्य प्राप्तयोर्लोपवकारयोर्यस्मिन् कृते श्रुतिसुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः ।

अर्थात् श्रुतिसुखानुसार लोप या व किया जा सकता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि दोनों सूत्रों में जिस प्रायः शब्द का उपयोग किया गया है वह निरर्थक बन जाता है। व्याकरणकार क्या एक तरफ परंपरा का अनुसरण कर रहे हैं और दूसरी तरफ उसी में संशोधन कर रहे हैं क्या ? इन विधानों में स्पष्टता का अभाव दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रहता।

वरसच्चि के व्याकरण में भी यही दोष नजर आता है। उनके प्राकृत-प्रकाश में पहले प्रायः लोप और पुनः प्रायः व होने का आदेश है। वृत्ति में फिर कहा गया है—जहां पर लोप नहीं हो वहां पर व बन जाता है—

*विभागाध्यक्ष, प्राकृत-पालि विभाग, गुजरात यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद-६

कगच्चजतदपयवां प्रायो लोपः (२.२)

पो वः (२.१५)

वृत्ति :—प्रायोग्रहणाद्यत्र लोपो न भवति तत्रार्थं विधिः ।

त्रिविक्रम अपने प्राकृत शब्दानुशासनम् में हेमचंद्र का ही शब्दशः अनुसरण करते हैं । (देखिए—सूत्र १.३.८; १.३.९ और १.३.५५ एवं अन्तिम सूत्र की वृत्ति) ।

मार्कंडेय भी अपने प्राकृत सर्वस्व में (सूत्र नं० २.२ और २.१४) ऐसा ही विधान करते हैं । उन्होंने हेमचंद्र और वररुचि की तरह कोई समाधान नहीं किया है ।

इस दृष्टि से भरतनाट्यशास्त्र का विधान कुछ अलग-सा लगता है । उन्होंने अन्य मध्यवर्ती व्यंजनों के साथ में पकार का लोप नहीं रखा है परन्तु लोप के बदले में पकार के वकार में बदलने की बात अलग से उदाहरण देकर कही है । लोप के सूत्र में प का उल्लेख ही नहीं है—

वचनमिति कगतदयवा लोपमर्थं च से वहन्ति सरा (१७.७)

फिर पकार के लिए अलग से सूचित किया है कि—

आपाणमावाणं भवति पकारेण यत्त्वयुक्तेन (१७.१४)

व्याकरणकारों के इन परस्पर विरोधी विधानों एवं भरतमुनि के आदेश को ध्यान में लेते हुए क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि प्रायः लोप का जो सूत्र है उसमें पकार का समावेश नहीं करके उसके लिए ऐसा विधान बनाते कि पकार का लोप या वकार वैकल्पिक है । शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ऐसा नियम बनाना भी उचित नहीं ठहरता है । मेहेण्डले द्वारा किये गये अध्ययन का सार यह है कि शिलालेखों में मध्यवर्ती पकार का अधिकतर वकार पाया जाता है (देखिए पृ० २७३ से २७५) । पिशाल महोदय (१४७) के अनुसार भी मध्यवर्ती पकार का लोप कभी-कभी ही होता है जबकि अधिकतर वकार ही होता है । साहित्यिक उदाहरण भी यही तथ्य स्पष्ट करते हैं । विविध ग्रंथों की भाषा का विश्लेषण यहां पर उदाहरण के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है—

(अ) साहित्य में मध्यवर्ती प का लोप या वकार

ग्रन्थ-नाम) प	—	यथावत्	या व	या लोप	प्रतिशत वकार
(i) सेतुबन्धम् आशवास २		१	२५	५	८०
(ii) गाथासप्तशती		०	३४	३	९२
शतक ३,१ से ५० गाथा					
(iii) स्वप्नवासवदत्तम् अंक १,२,३	९	२६	८	७४	
(iv) इसिभासियाई					
(क) अ. २९, वद्धमान	०	२३	०	१००	
(ख) अ. ३१, पाशवं	१	११	०	९१	
(v) उत्तराध्ययन, अ. १३					
(आल्सडर्फ के अनुसार नौ (९) के संस्करणानुसार]					
प्राचीन पद्यों का विश्लेषण)	१	१३	०	९३	

खण्ड १६, अंक २ (सित०, ६०)

६

(vi) विशेषावश्यक भाष्य	२	७३	०	६७
(१०१ से २०० गाथाएं)				
(vii) पञ्जोसवणा (कल्पसूत्र २३२				
से २६१ संपा. पुण्यविजयजी)	१२	७३	३	८३
(viii) बृहत् कल्पसूत्र, अ. १	१७	४५	०	७२
(घासीलालजी)				
(ix) सूत्रकृ० इत्थीपरिन्ना	१	३२	०	६७
(क) आल्सडर्फ संस्करण				
(ख) म० जै० विद्यालय	२	२६	०	६४
(x) पणवणासूत्र (सूत्र १ से ७४, ३				
१३६ से १४७)	२०	२०	०	८७
(xi) षट्खण्डागम (१.१ से ८१ सूत्र)	३	१६	३	७६

(ब) व के लोप की स्थिति

मध्यवर्ती वकार का प्रायः लोप होता है ऐसा जो नियम दिया गया है वह भी उचित नहीं लगता है। पिशाल महोदय (१८६) के अनुसार कभी-कभी ही लोप होता है। मेहेण्डले के अनुसार (पृ० २७४-२७५) शिलालेखों में मध्यवर्ती वकार का लोप क्वचित् ही होता है।

साहित्य में व का लोप

	लोप	यथावत्	प्रतिशत यथावत्
(i) स्वप्नवासवदत्तम् (अंक १, २, ३)	०	४६	१००
(ii) गाथासप्तशती (३.१-५०)	१०	१२	५५
(iii) सेतुबन्धम् (सर्ग २.१ से ४६)	१५	३७	६१

स्वप्नवासवदत्तम् जैसी प्राचीन कृति में व का लोप नहीं मिलता है जबकि परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत कृतियों गा० स० श० और से० ब० में व का लोप मिल रहा है। क्या इसी कारण वररुचि को व के लोप का सूत्र में उल्लेख करना पड़ा या परवर्ती सम्पादकों पर वररुचि का प्रभाव पड़ा। नीचे दिये जा रहे अर्धमागधी और शौरसेनी के प्राचीन ग्रन्थों की भाषा का विश्लेषण भी यही साबित करता है कि उनमें वकार का प्रायः लोप नहीं मिल रहा है।

	लोप	यथावत्	प्रतिशत यथावत्
(iv) इसिभासियाई			
(क) अ० २६ वर्धमान	०	१४	१००
(ख) अ० ३१ पार्श्व	०	५०	१००
(v) सूत्रकृ० इत्थीपरिन्ना			
(क) आल्सडर्फ	०	२७	१००

(शेषांश पृष्ठ ३४ पर

पृथ्वीकाय : एक विवेचन

डॉ० रज्जन कुमार*

इस संसार में ऐसे भी जीव पाए जाते हैं जो बाह्य अनुभूतियों का संवेदन मात्र एक इन्द्रिय की सहायता से ही करते हैं, इसलिए इन्हें एकेन्द्रिय जीव कहा जाता है। क्रम से जीवों का विकास होता जाता है और उसके इन्द्रियों की संख्या बढ़ती जाती है। जीव के विकास एवं इन्द्रियों की संख्या में गहरा संबंध है। यह व्यावहारिक एवं स्व-अनुभव की ही बात है, क्योंकि हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों जीवों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनकी सांसारिक अनुभूतियों के संवेदन करने की क्षमता बढ़ती जाती है। जैसे—एकेन्द्रिय में मात्र स्पर्श करने की क्षमता होती है, परन्तु इससे विकसित जीव द्वीन्द्रिय में स्पर्श और रस अर्थात् स्वाद ग्रहण की क्षमता होती है। तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय में जहां मात्र स्पर्श इन्द्रिय होती है, वहीं द्वीन्द्रिय में स्पर्श और रस इन्द्रिय होती है। इसी तरह त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि जीव को समझना चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय अधिक विकसित है, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय क्रम से अधिक विकसित जीव है।

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग-अलग विषय होता है तथा एक इन्द्रिय अन्य दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती है। अतः ज्यों-ज्यों जीवों में विभिन्न तरह की इन्द्रियों का विकास हो जाता है त्यों-त्यों क्रम से उनमें बाह्य संवेदनाओं की अनुभूति की क्षमता बढ़ती जाती है। इन्द्रियों की संख्या विकसित जीवों में क्रम से क्यों बढ़ती जाती है इसे इस तरह समझा जा सकता है—जीव का जब विकास होगा तब उसकी आवश्यकताएं बढ़ेंगी और बढ़ी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए साधन की आवश्यकता होगी। चूंकि संवेदनाओं की अनुभूति इन्द्रियों के द्वारा ही संभव है अतः इन्द्रिय की संख्या और जीव के विकास का सम्बन्ध समझ में आ जाता है।

जीव-विज्ञान भी इस बात से सहमत है कि जीवों के विकास के साथ-साथ इन्द्रियों की संख्या में भी वृद्धि होती है। यद्यपि जीव वैज्ञानिकों ने मात्र इन्द्रियों के आधार पर ही जीव की विकासशीलता का मापदंड निर्धारित नहीं किया है, परन्तु इससे इंकार भी नहीं किया जा सकता है। क्योंकि जीव के विभिन्न वर्गों के विभाजन में यह बात परिलक्षित हो जाती है कि छोटे-छोटे जीवों में इन्द्रिय की संख्या कम होती है और निरंतर विकास के फलस्वरूप उनमें इन्द्रिय की संख्या बढ़ती जाती है। उदाहरण स्वरूप

* रिसर्च एसोसिएट, भोगोलाल लेहरचंद शोध संस्थान, दिल्ली

अमीबा एक अत्यंत सूक्ष्म जीव है, इसमें मात्र एक इन्द्रिय स्पर्श की होती है और इसी इन्द्रिय की सहायता से वह अपना सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि जैनग्रंथों की ही तरह जीव विज्ञान में भी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का उल्लेख मिलता है।

‘पंचसंग्रह’ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “जो जीव एक स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ही अपने विषय को जानता है, देखता है, भोगता है, स्वामित्व करता है और उसका सेवन करता है, वह एकेन्द्रिय जीव है।” तात्पर्य यह है कि एकेन्द्रिय जीव अपने जीवन की सारी क्रियाओं का सम्पादन मात्र एक इन्द्रिय (स्पर्श) की सहायता से करता है।

जैनग्रंथों में एकेन्द्रिय जीवों को पांच वर्गों में विभाजित किया गया है—

१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. तेजस्काय, ४. वायुकाय और ५. वनस्पतिकाय।

१. पृथ्वीकाय—पृथ्वीकाय ही जिन जीवों का शरीर है, वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं। काय का अर्थ शरीर होता है।

२. अप्काय—‘अप्’ अर्थात् जल ही जिन जीवों का शरीर या काय होता है, उन्हें अप्काय कहा जाता है।

३. तेजस्काय—तेज या अग्नि ही जिन जीवों का काया या शरीर है, वे तेजस्काय जीव हैं।

४. वायुकाय—वायु या हवा ही जिनका काय है, वे वायुकाय जीव कहलाते हैं।

५. वनस्पतिकाय—लतादि वनस्पति ही जिनका काय है, उन्हें वनस्पतिकाय जीव कहा जाता है।

जैनग्रंथों में इस तरह से कुल पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का उल्लेख मिलता है और इन पांचों का क्रम इस प्रकार है—पहले पृथ्वीकाय तत्पश्चात् क्रम से अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। यह क्रम क्यों रखा गया इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया जा सकता है—पृथ्वी समस्त प्राणियों को आधार प्रदान करती है। आधारकर्ता होने के कारण इसे प्रथम स्थान पर रखा गया है। अप्कायिक पृथ्वी के आश्रित हैं, इस कारण अप्कायिक को ग्रहण किया गया है। तत्पश्चात् उनके प्रतिपक्षी अग्निकाय को रखा गया है। अग्नि वायु के सम्पर्क में आने पर बढ़ती है, इसी कारण इसके बाद वायुकाय को रखा गया है। वायु दूरस्थ लतादि के कम्पन से अनुभव में आती है और इसीलिए वनस्पतिकाय को सबसे अंत में और वायुकाय के बाद रखा गया है।^१

एकेन्द्रिय जीवों की इस विवेचना के पश्चात् अब हम पृथ्वीकाय जीव की विस्तृत चर्चा करेंगे। यह तो स्पष्ट ही हो गया है कि पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव है और एकेन्द्रिय जीवों के जो विभिन्न वर्गीकरण किए गए हैं उनमें पहला स्थान पृथ्वीकाय का ही है। पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव है और एकेन्द्रिय जीवों के जो विभिन्न वर्गीकरण किए गए हैं उसमें पहला स्थान पृथ्वीकाय का ही है। पृथ्वीकाय जीव का शरीर स्वयं पृथ्वी ही है इसे स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है क्योंकि यह भ्रांति हो सकती है कि पृथ्वी में जीव तो हैं ही। लेकिन पृथ्वीकाय जीव कहने का अर्थ यही है कि पृथ्वी स्वयं सजीव है,

इसकी सजीवता पृथ्वी में उपस्थित जीवों पर आधारित नहीं है। जैनग्रंथों में पृथ्वीकाय का विभाजन दो प्रकार से किया गया है—(क) सूक्ष्मपृथ्वीकाय और (ख) बादर पृथ्वीकाय।

(क) सूक्ष्मपृथ्वीकाय—सूक्ष्म कर्म के उदय से जिन जीवों की उत्पत्ति होती है, उन्हें सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव कहते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म होता है, यह न तो किसी का घात कर सकता है और न स्वयं किसी के द्वारा इसका घात संभव है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्मपृथ्वीकाय का प्रतिघात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु से संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय का प्रत्यक्ष इंद्रियों के द्वारा संभव नहीं है अर्थात् यह इंद्रियों का विषय नहीं बन सकता है।^१ ये सूक्ष्मपृथ्वीकाय जीव नाना प्रकार के होते हैं और संपूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं।^२

सूक्ष्मपृथ्वीकाय जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय और (२) अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय।

(१) पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय - स्वयोग्य अर्थात् अपने योग्य पर्याप्ति सहित जो जीव होता है, वह सूक्ष्म पर्याप्ति पृथ्वीकाय जीव कहलाता है। पर्याप्ति जीव की एक शक्ति है जिसके द्वारा वह पुद्गल या तत्व में उपस्थित रस, रूप आदि को ग्रहण कर लेता है और इसकी सहायता से इंद्रिय, शरीर आदि का निर्माण करता है। जैनग्रंथों में छह प्रकार की पर्याप्तियों का उल्लेख मिलता है—(१) आहार पर्याप्ति, (२) शरीर पर्याप्ति, (३) इंद्रिय पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

१. आहार पर्याप्ति—बाह्य आहार को रस रूप में परिवर्तित करने की शक्ति आहार पर्याप्ति है। इस पर्याप्ति शक्ति के द्वारा जीव आहार पुद्गल को रस में परिवर्तित करता है। आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में यह जीव की पाचन क्रिया का ही दूसरा नाम है।

२. शरीर पर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा आहार रस को सात धातुओं—(१) रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. चर्बी, ५. हड्डी, ६. मज्जा और ७. वीर्य में परिवर्तित किया जाता है—इन्हीं सात धातुओं से शरीर का निर्माण होता है। शरीर पर्याप्ति शक्ति संभवतः आधुनिक विज्ञान में प्रतिपादित चयापचय की क्रिया का ही नाम ही। चयापचय की क्रिया के द्वारा ही शरीर में विभिन्न प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं और इनके फलस्वरूप शरीर का निर्माण होता है।

३. इंद्रिय पर्याप्ति—शरीर पर्याप्ति के द्वारा जो धातु बनते हैं उन धातुओं को इंद्रिय रूप में परिवर्तित करने की शक्ति का नाम इंद्रिय पर्याप्ति है। आधुनिक जीव विज्ञान में काय निर्माण की प्रक्रिया जिसे मारफोलाजी कहा जाता है, वह संभवतः इंद्रिय पर्याप्ति ही है। क्योंकि काय निर्माण की क्रिया के द्वारा ही जीव के शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण होता है। चूंकि इंद्रिय भी शरीर का ही अंग है और वस्तुतः यह भी शरीर है और इंद्रिय पर्याप्ति के द्वारा इंद्रियों का ही निर्माण होता है।

४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति - श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल को ग्रहण कर श्वासो-

च्छ्वास के रूप में परिणत करने की शक्ति श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहलाती है। जैन-ग्रंथों में प्रतिपादित श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति आधुनिक जीव विज्ञान सम्मत श्वास क्रिया का ही दूसरा नाम है। श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल को ग्रहण करना और इसे श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करने का अर्थ अगर आधुनिक जीव विज्ञान से जोड़ा जाए तो यही कहा जा सकता है कि ऑक्सीजन गैस ग्रहण करना और कार्बनडाइऑक्साइड गैस को छोड़ना। क्योंकि श्वसन का यही रूप है और यह सिद्ध भी किया जा चुका है।

५. भाषा पर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव भाषा वर्णना के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषारूप में परिणत करे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि के रूप में छोड़े, वही शक्ति भाषा पर्याप्ति कही जाती है।

भाषा पर्याप्ति ध्वनि विज्ञान और स्वर-रज्जु से संबंधित है। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार कोई भी ध्वनि तभी श्रवण योग्य होगी जब उसकी शक्ति २० हर्ज से लेकर २००० हर्ज तक होगी। हर्ज ध्वनि-विज्ञान की एक इकाई है। जीव-विज्ञान के अनुसार ध्वनि का बनना स्वर-रज्जु की बनावट पर भी निर्भर करता है। स्वर-रज्जु की बनावट ऐसी होती है कि जब जीव कोई ध्वनि निकालना चाहता है तो उसी परिप्रेक्ष्य में स्वर-रज्जु से संबंधित स्नायु पर बल डालता है और परिणामस्वरूप ध्वनि निकल पड़ती है। जिन जीवों में स्वर-रज्जु नहीं होता है, वे ध्वनि या शब्द उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

६. मन पर्याप्ति—मन को ग्रहण करने योग्य पुद्गल परमाणु को मन के परिणामी भावों में व्यक्त करने की शक्ति मन पर्याप्ति है। मन पंचेन्द्रिय के समान बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण नहीं करता है। दुःख, सुख, दया आदि आंतरिक मनोभावों का संवेदन मन के द्वारा ही होता है। जीव विज्ञान में भी बाह्य संवेदनाओं के अतिरिक्त आंतरिक संवेदनाओं यथा दुःख, सुख आदि ग्रहण करने हेतु आंतरिक इन्द्रियों की सत्ता मानी गई है। यद्यपि ये सभी सुख-दुःखादि भाव तंत्रिका तंत्र द्वारा गृहीत किए जाते हैं, परंतु मन जैसी सत्ता से इसे जोड़ा भी तो जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि जैनग्रंथों में जो पर्याप्ति की यह अवधारणा पाई जाती है, वह आधुनिक विज्ञान सम्मत ही जान पड़ती है, परंतु हमारा विषय यह नहीं है, पर्याप्ति के सम्बंध में मात्र हमें इतना ही कहना है कि एकेन्द्रिय में सिर्फ चार तरह की पर्याप्तियां पाई जाती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास। मन और भाषा पर्याप्ति का अभाव होता है। एकेन्द्रिय असंज्ञी जीव है अतः इनमें मन पर्याप्ति का अभाव स्वयं समझ में आ जाता है। एकेन्द्रिय में मात्र स्पर्श इन्द्रिय है और भाषा या शब्द को श्रवण करने के लिए श्रवणेन्द्रिय अनिवार्य है और इसका अभाव एकेन्द्रिय में होता है, इसलिए उनमें भाषा पर्याप्ति का भी अभाव पाया जाता है। पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय जीव है अतः इसमें भी चार पर्याप्तियां—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ही पाई जाती हैं।

२. अपर्याप्ति सूक्ष्म पृथ्वीकाय—जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं कर पाते हैं, उन्हें अपर्याप्त जीव कहा जाता है। जो सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव अपने योग्य पर्याप्तियां

पूर्ण नहीं कर पाते हैं, उन्हें अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय कहा जाता है। अपर्याप्त जीव दो प्रकार के होते हैं—(अ) लब्धि से अपर्याप्त और (ब) करण से अपर्याप्त।

(अ) लब्धि से अपर्याप्त—जो जीव अपर्याप्त रह कर ही मर जाते हैं, उन्हें लब्धि से अपर्याप्त जीव कहा जाता है। लब्धि का अर्थ होता है कुछ उपलब्ध करना और जो जीव बिना कुछ उपलब्ध किए ही मर जाता है, उसे लब्धि से अपर्याप्त जीव कहा जाता है।

(ब) करण से अपर्याप्त जीव—जिन जीवों की पर्याप्तियां अभी पूर्ण नहीं हुई हैं, परंतु भविष्य में पूर्ण होंगी और उनमें ऐसी सामर्थ्य भी है, तो ऐसेही सूक्ष्म अपर्याप्त जीव को करण से अपर्याप्त जीव जहा जाता है।

मनुष्य या पशु के शुक्राणु को अपर्याप्त जीव की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह सामान्य-सी बात है कि शुक्राणु को जब उचित माध्यम मिलता है तो वे एक पूर्ण विकसित जीव बनते हैं और सभी तरह की पर्याप्तियों से युक्त होते हैं। परंतु उचित माध्यम नहीं मिलने के कारण ये नष्ट हो जाते हैं और एक पूर्ण विकसित जीव नहीं बन पाते हैं। इस दृष्टि से पर्याप्त पूर्ण करने से पूर्व मर जाने के कारण ये लब्धि से अपर्याप्त जीव हैं तथा पर्याप्त पूर्ण करने की क्षमता इनमें होती है अतः ये करण से अपर्याप्त भी हैं।

(ख) बादर पृथ्वीकाय जीव—बादर नाम कर्म के उदर से जिस जीव की उत्पत्ति होती है उसे बादर जीव कहा जाता है और इस बादर नाम कर्म के पृथ्वीकाय से जुड़ जाने पर ऐसे जीव को बादर पृथ्वीकाय जीव कहते हैं। बादर का दूसरा अर्थ स्थूल भी होता है। इसका शरीर प्रतिघात सहित होता है। स्थूलता के कारण ये दूसरों का प्रतिघात तो करते ही हैं और स्वयं इनका भी प्रतिघात संभव है। इनका प्रत्यक्षीकरण इन्द्रियों के द्वारा संभव है। चूँकि ये स्थूल होते हैं अतः इनका स्थान इस लोक में निश्चित होता है। सूक्ष्म जीव की तरह ये लोक में चारों ओर व्याप्त नहीं होते हैं।^{१०} बादर पृथ्वीकाय जीव दो प्रकार के होते हैं—(क) श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय और (ख) रूक्ष बादर पृथ्वीकाय।

(क) श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय—कोमल, मुदु मृत्तिका या मिट्टी ही जिन जीवों का शरीर है, उन्हें श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय जीव कहा जाता है। जैनग्रंथों में सात प्रकार के श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय का उल्लेख मिलता है^{१२}—१. कृष्ण श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय, २. नील श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय, ३. रक्ताभ (लाल) श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय, ४. पीत श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय, ५. शुक्ल या श्वेत श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय, ६. पाण्डू श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय और ७. पनक श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय। परंतु आचारांग निर्युक्ति में मात्र पांच प्रकार के ही श्लक्ष्ण बादर पृथ्वीकाय का उल्लेख किया गया है—कृष्ण, नील, लाल, पीला और शुक्ल।^{११}

श्लक्ष्ण बादर के प्रकार में संख्या का यह अंतर क्यों आया है यह एक शोध का विषय है क्योंकि अगर इस प्रकरण पर विचार किया जाए तो हमारे समक्ष दो तीन बातें प्रकाश में आती हैं। जैनग्रंथों में पांच प्रकार के वर्णों का उल्लेख मिलता है और

संभवतः निर्युक्तिकार ने आचारांग निर्युक्ति में इसी के आधार पर पांच प्रकार के श्लक्षण बादर पृथ्वीकाय का उल्लेख किया है। इनके द्वारा प्रतिपादित कृष्ण, नीला, लाल, पीला और सफेद रंग जैन ग्रंथों में प्रतिपादित पांच वर्णों से मेल खाते हैं। परंतु प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन सूत्र में जो सात प्रकार के श्लक्षण बादर पृथ्वीकाय का विवरण मिलता है, वह किस आधार पर है यह एक शोध का विषय है। अगर हम इन सात वर्णों की भौतिक विज्ञान में प्रतिपादित सात रंगों के साथ तुलना करना चाहें तो इनमें अंतर आ जाता है। भौतिक विज्ञान में सात मौलिक रंग हैं—बैंगनी, जम्बुक, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल तथा जैनग्रंथों (प्रज्ञापना और उत्तराध्ययन) में श्लक्षण बादर के भी सात रंग बताए गए हैं—कृष्ण, नीला, रक्ताभ, पीला, श्वेत, पाण्डू और पनक (हरा)। अतः इन दोनों का भी अंतर स्पष्ट है। श्लक्षण बादर पृथ्वीकाय के सात भेदों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. कृष्ण—काले रंग की मिट्टी
२. नील—नीले रंग की मिट्टी
३. रक्त—रक्त के समान लाल रंग की मिट्टी
४. पीत—हल्दी के समान पीले रंग की मिट्टी
५. शुक्ल—श्वेत मिट्टी
६. पाण्डू—श्वेत और पीले रंग के मेल से बनी मिट्टी अर्थात् हल्के पीले रंग की मिट्टी
७. पनक—गहरे हरे रंग की मिट्टी।

(ख) रूक्ष बादर पृथ्वीकाय—किसी विशेष परिस्थिति या कारणवश जिन पृथ्वीकाय जीवों का शरीर कठोर या रूक्ष हो जाता है, उन्हें खर या रूक्ष बादर पृथ्वीकाय कहा जाता है। रूक्ष बादर पृथ्वीकाय अनेक प्रकार के होते हैं। जैनग्रंथों जैसे आचारांग निर्युक्ति,^{१८} उत्तराध्ययन सूत्र,^{१९} पंचसंग्रह,^{१९} मूलाचार^{१९} में इनकी कुल संख्या ३६ मानी गई है परंतु प्रज्ञापना सूत्र^{१६} में ४०। यद्यपि उत्तराध्ययन सूत्र की मूल गाथा में ३६ संख्या का ही उल्लेख है, परंतु जब इन जीवों का नाम गिनाया जाता है तब संख्या ४० तक पहुंच जाती है। चालीस प्रकार के खर बादर पृथ्वीकाय के नाम निम्नलिखित हैं—१. शुद्ध मिट्टी, २. शर्करा, ३. बालू, ४. उपल-पत्थर, ५. शिला, ६. लवण, ७. ऊष, ८. लोहा, ९. ताम्बा, १०. त्रपुक, ११. सीसा, १२ चांदी, १३. सोना, १४ वज्र-हीरा, १५. हरिताल, १६. हिंगुल, १७. मैनसिल, १८. सस्यक, १९- अंजन, २०. प्रवाल, २१. अन्नक, २२. अन्नक बालू, २३. गोमेद, २४. रूचक, २५ अंक, २६. स्फटिक, २७. लोहिताक्ष, २८. चंदन, २९. गेरु, ३०. हंसगर्भ, ३१. भुजमोचक, ३२. मसारगल्ल, ३३. चंद्रप्रभ, ३४. वैडूर्य, ३५. जलकांत, ३६. सूर्यकांत, ३७. मरकत, ३८. पुलक, ३९. इन्द्रनील और ४०. सौगंधिक।

उपर्युक्त ४० प्रकार के रूक्ष बादर पृथ्वीकाय के जो नाम गिनाए गए हैं उनमें से १ से ३६ तक तो क्रम सही है तथा बाद का अर्थात् ३७ से ४० तक का क्रम सही नहीं है। यह इसीलिए किया गया क्योंकि कुछ ग्रंथों में ३६ तो कुछ में ४० संख्या का

उल्लेख मिलता है अतः ३६ तक का जिस क्रम से उल्लेख मिलता है उसे ज्यों-का-त्यों लिख दिया गया और जो बाकी बच गए उन्हें उनके बाद जोड़ दिया गया है।

खर बादर पृथ्वीकाय के जो ये चालीस भेद गिनाए गए हैं उन्हें चार कोटियों में रखा गया है। प्रथम कोटि में पृथ्वी के चौदह भेद यथा पृथ्वी, शर्करा, बालू, सिला, लवण, सोना, लोहा, तांबा, हीरा आदि को रखा गया है। तत्पश्चात् हडताल आदि के आठ भेद गिनाए गए हैं। तृतीय गाथा में गोमेद आदि नौ मणियों का उल्लेख मिलता है तथा चौथी और अंतिम गाथा में चंदन आदि सुगंधित नौ मणियों का विवरण दिया गया है। इस तरह से कुल चालीस प्रकार के खर बादर पृथ्वीकाय का उल्लेख जैनग्रंथों में उपलब्ध होता है।

अगर हम इन चालीस प्रकार के बादर पृथ्वीकाय पर दृष्टि डालें तो ऐसा लगता है कि ये सभी या तो पृथ्वी के बदले रूप हैं, पृथ्वी से प्राप्त खनिज हैं तथा चंदन आदि सुगंधित द्रव्य हैं। इनमें जीव इसलिए मान लिया गया है कि ये पृथ्वी के ही भाग हैं और पृथ्वी स्वयं जीव है। अगर रसायन विज्ञान पर विचार किया जाए तो हमारे समक्ष यह विवरण अवश्य उपस्थित होता है कि प्रारंभ में रसायन शास्त्रियों ने तत्त्वों की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए उन्हें जो चिह्न या नाम प्रदान किया वह विभिन्न जीवों नक्षत्रों आदि के नामों पर आधारित था। दूसरे शब्दों में कहें तो उन्होंने उन तत्त्वों में उन जीवों और नक्षत्रों का स्वरूप देखा जिनके साथ उन्हें जोड़ा गया। अर्थात् रसायन-वेत्ताओं के तत्त्वों के नामकरण की पद्धति जीवों की प्रकृति पर आधारित थी। बाद में यह परंपरा गलत साबित हुई और अब तक १०३ तत्त्वों के बारे में वैज्ञानिकों को जो जानकारी उपलब्ध हुई है, वे सब जीवधारियों से बिलकुल अलग हैं। अर्थात् ये सब जीव नहीं हैं।

जैनाचार्यों ने पृथ्वीकाय के जो ४० भेद गिनाए हैं उनमें से बहुत का समावेश इन १०३ तत्त्वों के अंतर्गत हो जाता है। जैसे—लोहा, सोना, तांबा, चांदी आदि। अतः आधुनिक विज्ञान के आधार पर इनमें जीव के लक्षण देखे जाएं तो हमें सफलता नहीं मिलेगी। अर्थात् इन्हें जीव नहीं माना जा सकता है। परंतु जैनग्रंथों में इन्हें पृथ्वीकाय जीव कहा गया है और यह जैनाचार्यों का अपना मौलिक चिंतन है। इसके पीछे वे अपना तर्क भी देते हैं और उसी के आधार पर उन्होंने इन्हें जीव कहा है।

खर बादर पृथ्वीकाय के दो भेद हैं^{१९} ?—१. अपर्याप्तक और २. पर्याप्तक

१. अपर्याप्तक—वे खर बादर पृथ्वीकाय जो या तो अपनी पर्याप्तियों से पूर्णतया असंप्राप्त हैं अथवा उन्हें विशिष्ट वर्ण आदि प्राप्त नहीं हुए हैं, अपर्याप्तक खर बादर पृथ्वीकाय कहलाते हैं। इस दृष्टि से उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वे कृष्ण आदि वर्ण वाले हैं। शरीर आदि पर्याप्तियां पूर्ण हो जाने पर ही बादर जीवों में वर्णादि प्रकट होता है, अपूर्ण होने की स्थिति में नहीं। ये अपर्याप्तक जीव उच्छ्वास पर्याप्ति से अपर्याप्त रह कर ही मर जाते हैं। इसीलिए उनमें स्पष्ट वर्णादि संभव नहीं है। इसी दृष्टि से उन्हें 'असंप्राप्त' कहा गया है।

२. पर्याप्तक—वे खर बादर पृथ्वीकाय जो अपनी पर्याप्तियां पूर्ण कर लेते हैं

पर्याप्तक कहलाते हैं। पर्याप्तक जीवों के वर्णादि के भेद से हजारों भेद कहे गए हैं।^{१०} क्योंकि जो बादर पृथ्वीकाय पर्याप्तक हैं वे अपने योग्य चार पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं और उनके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के भेद से ही हजारों भेद बन पाते हैं। जैसे—वर्ण के पांच भेद, गंध के पांच तथा स्पर्श के आठ भेद होते हैं फिर प्रत्येक वर्ण, गंध, रस, स्पर्श में अनेक प्रकार की तरतमता होती है। जैसे—भ्रमर, कोयल और काजल आदि में कृष्ण वर्ण की न्यूनाधिकता का पाया जाना। अतः कृष्ण, कृष्णतर, कृष्णतम,..... असंख्यात् कृष्ण आदि कृष्ण के अनेक भेद हो गए। इसी प्रकार नील, पीतादि वर्ण के विषय में भी समझना चाहिए। गन्ध, रस और स्पर्श से संबंधित भी ऐसे ही अनेक भेद होते हैं। इसी प्रकार वर्णों के परस्पर मिलने से भी कई प्रकार के वर्ण निष्पन्न होते हैं। जैसे—धूसर वर्ण, चितकबरा आदि। इसी प्रकार एक गन्ध में दूसरी गन्ध के मिलने से, एक रस में दूसरे रस के मिश्रण करने से, एक स्पर्श के साथ दूसरे स्पर्श के संयोग से हजारों भेद गंध, रस, स्पर्श की अपेक्षा से हो जाते हैं। इस तरह बादर पृथ्वीकाय के लाखों योनि भेद वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के आधार पर निष्पन्न हो जाते हैं।

इस तरह जैनग्रंथों में प्रतिपादित पृथ्वीकाय की चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जैनाचार्यों ने पृथ्वीकाय का जो विवरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है वह आध्यात्मिक भावना से पूर्ण होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है। पृथ्वीकाय बाह्य संवेदनाओं की अनुभूति अपनी एक मात्र इंद्रिय स्पर्शन् की सहायता से करता है तथा वह चार पर्याप्तियों से युक्त होता है, यद्यपि कुछ पृथ्वीकाय अपर्याप्तिक भी होते हैं। पृथ्वीकाय इन्द्रिय के द्वारा संवेदनाओं को ग्रहण करता है और चार पर्याप्तियां यथा-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास के द्वारा क्रम से आहार ग्रहण, शरीर तथा इन्द्रिय का निर्माण एवं श्वास-प्रश्वास की क्रिया का सम्पादन किया जाता है। आधुनिक विज्ञान में उसे जीव कहा जाता है जो आहार लेता हो, उस आहार का पाचन करता हो, पाचक आहार को रस में परिवर्तित कर उस रस से शरीर के अंगों का निर्माण करता हो तथा श्वासोच्छ्वास की क्रिया सम्पादन करता हो एवं बाह्य संवेदनाओं की अनुभूति भी करता हो। पृथ्वीकाय जीव पर्याप्ति शक्ति और स्पर्श इंद्रिय की सहायता से इन सब क्रियाओं का सम्पादन करता है, तात्पर्य यह है कि यह जीव है। इसे जीव कहलाने हेतु आधुनिक विज्ञान सम्मत सभी लक्षण इसमें मिलते हैं। यही कारण है कि जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीकाय की यह अवधारणा वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्ण है।

पृथ्वीकाय की अवधारणा में बादर पृथ्वीकाय के अंतर्गत सात प्रकार की मृत्तिका तथा ४० प्रकार के मिट्टी, पत्थर, लौह, चांदी, सोना, हडताल, गोमेद, चंदनादि को भी जीव मान लिया गया है। ये सभी जीव हैं। इसके पीछे जैनाचार्यों का तर्क मात्र इतना ही है कि पृथ्वी स्वयं जीव है और ये सभी किसी न किसी रूप में पृथ्वी से जुड़े हैं। मात्र इतना ही कह देने से इन सबको जीव नहीं माना जा सकता है। हां, धार्मिक भावना के आधार पर इन्हें जीव माना जा सकता है और इस अर्थ में यह आध्यात्मिक

भावना से जुड़ जाता है। खैर, जो भी हो, पृथ्वीकाय की यह अवधारणा जैनों का एक अपना मौलिक चिंतन है और जैन ग्रंथों में इस पर व्यापक चर्चा हुई है जिसका संक्षिप्त रूप यहां प्रस्तुत किया गया है।

संदर्भ :

१. पंचसंग्रह, १।६६
२. ठाणोंग, ६।३।४८०, प्रज्ञापना, पद १, सू० १२, अणुभोगद्वाराइं, ५, षट्खंडागम, १।१, १, ३६-४२।२६४-२७२; कर्मग्रंथ ४, गाथा १०, तत्त्वार्थसूत्र, २।२२, तिलोय-पन्नति, ५।२७८, राजवार्तिक, ६।७।११।६०३।३१, गोम्मटसार, जीवकांड, १८।१।४१४
३. प्रज्ञापना, मलयगिरि टीका, पृ० ६६—७०
४. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७१ प्रज्ञा. १।१३, जीवाभिगम, १।८, 'उत्तराध्ययनसूत्र', ३६।७०
५. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२, टीका ७१, धवला, ३।१, २, ८, ७।३३।१२ गोम्मटसार जीव कांड १८।४।४१।१४, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १२७, प्रवचनसार, १६८।२३०।१३
६. आचारांग निर्युक्ति, १।२।२।७१, उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।७८
७. ठाणों, २।१२८, जीवाभिगम, १।१४, प्रज्ञापना, १।१४, उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।७०, अणुभोगद्वाराइं, ७
८. भगवई, शतक, ६, ४।६३, प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३२, गाथा, ३१, कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, गाथा ४६
९. भगवई, ८।१।१८, समवाओ, १४।१, कर्मग्रंथ प्रथम भाग, गाथा, ४६, प्रज्ञापना, १।१४, टीका
१०. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७१, टीका, धवला, ६।१६-१, २८।६१।८
११. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७२, प्रज्ञापना, १।१५, उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।७१
१२. प्रज्ञा०, १।१६, उ० सू० ३६।७२
१३. सण्हा य पंचवण्णा.....।
एवं तत्र श्लक्ष्णबावर पृथिवी कृष्णनील लोहितपीत शुक्ल भेदात्पञ्चधा ।
—आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७२, टीका
१४. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७३-७६
१५. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।७३, ७४, ७५, ७६, ७७
१६. पंचसंग्रह, १।७७
१७. मूलाधार, २०६, २०७, २०८, २०९
१८. प्रज्ञापना सूत्र, १।१७
१९. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२, ७६ टीका, प्रज्ञापना, १।२५
२०. आचारांग निर्युक्ति, १।१।२।७७, टीका, प्रज्ञापना, १।२५



जैन शास्त्रों में भक्ष्याभक्ष्य विचार

□ मंदलाल जैन*

अभक्ष्यता के आधार

जैन शास्त्रों में अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य के रूप में भक्ष्य पदार्थों के चार वर्गों के निरूपण के साथ सामान्य-जन और साधुओं को कौन-से पदार्थ आहार के रूप में ग्रहण करने चाहिये, इस पर चर्चा अपेक्षया कम है, पर कौन-से खाद्य ग्रहण नहीं करने चाहिये, इस पर विस्तृत विवरण पाया जाता है। आचारांग^१ में साधुओं को अपक्व, अशस्त्र-परिणत तथा अल्पफल-बहुउज्ज्वयणीय वनस्पति या तज्जन्य खाद्यों का अप्रासुक होने के कारण निषेध किया गया है। वहाँ अर्धपक्व, अयोनिबीज-विध्वस्त एवं किण्वित (बासी, सड़े) पदार्थों के भक्षण का भी निषेध है। इस निषेध का मूल कारण जीवरक्षा की भावना एवं अहिंसक दृष्टि ही माना जाता है। सामान्यतः इस प्रकार का निषेध श्रावकों पर भी लागू होना चाहिये। इस दृष्टि का स्पष्टीकरण समंतभद्र, वट्टेकर, पूज्यपाद, अकलंक तथा अन्य आचार्यों ने भी किया है। उन्होंने खाद्यों की अभक्ष्यता के आधार के रूप में (i) त्रस-जीव-घात (ii) प्रमाद परिहार (iii) अनिष्टता और (iv) अनुप-सेव्यता को माना है।^२ इसके साथ, आचारांग के अल्पफल बहु-उज्ज्वयणीय को (v) अल्पफल-बहुविघात में परिणत कर दिया है। इससे बहुफल-आल्पघाती पदार्थों की आंशिक भक्ष्यता संभव लगती है। भास्कर, नंदि और आशाधर आदि उत्तरवर्ती आचार्य एवं पंडित भी इन्हीं पांचों कोटियों को अभक्ष्यता का आधार मानते हैं। इनसे स्पष्ट है कि अभक्ष्यता का आधार केवल अहिंसक ही नहीं है, अपितु मादकता, रोगोत्पादकता एवं अनुपसेव्यता भी है जो स्वास्थ्य एवं जीवन के लिए हानिकारक है। शास्त्री^३ ने उपरोक्त मतों के समन्वय से खाद्यों की अभक्ष्यता के पांच आधार बताये हैं। इनमें लोक विरुद्धता के आधार को पूर्वाचार्यों ने अनुपसेव्यता की कोटि में माना है। अकलंक ने तो अखाद्य वस्तुओं को ही अनुपसेव्य कोटि में माना है। इन आधारों को सारणी १ में संक्षेपित किया गया है। इस सारणी में आधारों की संख्या अधिक है, फिर भी, चूँकि बिन्दु ६ व ७ वनस्पतियों से संबंधित हैं, अतः इन्हें कोटि-२ में ही समाहित करने पर अभक्ष्यता के मुख्य आधार पांच ही मननीय हैं। अनेक ग्रंथों में विभिन्न कोटियों के कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं। कुछ उदाहरण अनेक कोटियों में आते हैं। आगमकाल में अनेक अपक्व, अशस्त्र-परिणत एवं अप्रासुक वस्तुओं के अनेषणीय मानने का उल्लेख मिलता है पर दिगम्बर ग्रंथों में मूलाचार के उत्तरवर्ती काल में इस मान्यता के उल्लेख

*जैन केन्द्र, रीवा, म० प्र०

नहीं हैं। इसका कारण अन्वेषणीय है। सभी प्रकार की कोटियों के अन्तर्गत विभिन्न पदार्थों का पहले श्रावक के बारह व्रतों के आधार पर भोगोपभोग परिमाण एवं श्रोषधोपवास आदि के रूप में और बाद में अष्टमूलगुण और बाइस अभक्ष्यों के रूप में वर्गीकरण किया गया है।

सारणी १ : अभक्ष्यता के आधार

आधार	हेतु	उदाहरण
१. त्रसजीव घात, बहुघात बहुवध, बहु-जंतु योनि-स्थान	दो या अधिकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति, उपस्थिति से हिंसा, त्रस जीवों की हिंसा	पंच उदुंबर फल, अचार/ मुरब्बा आदि, द्विदल, चलितरस, रात्रि भोजन, मधु-मांसादि
२. स्थावर जीव घात (अनंत कायिक)	प्रत्येक/अनंतकाय जीवों की हिंसा	कंदमूल, बहुबीजक, कोंपल, अदरख, मूली, कच्चेफल, आर्द्र हरिद्रा
३. प्रमाद/मादकतावर्धक पदार्थ	आलस्य, उन्मत्तता, चित्त विभ्रम	मद्य, गांजा, भांग, अफीम, चरस, तंबाकू आदि नशीले पदार्थ
४. रोगोत्पादक/अनिष्ट पदार्थ	स्वास्थ्य के लिये अहितकर	—
५. अनुपसेव्यता/लोकविरुद्धता	—	प्याज, लहसुन आदि
६. अल्पफल-बहुविघात	त्रस-स्थावर जीव हिंसा	गन्ने की गंडेरी (तेंदू, कलींदा, कांटे एवं गूदेदार पदार्थ
७. अपक्वता/अशस्त्र प्रति हृतता/अनग्निपक्वता	इनके कारण सभी वनस्पति सजीव एवं अप्रासुक रहते हैं	जल

वनस्पति—हमारे प्रमुख खाद्य

सामान्यतः हमारे खाद्य पदार्थों में कुछ जनित (दूध, दही, घृत आदि) तथा कुछ संगृहीत (मधु आदि) को छोड़कर अधिकांश वनस्पति या वनस्पतिज ही होते हैं। आचारांग^१ और दशवैकालिक^२ में मूल, कंद, पत्र, फल, पुष्प, बीज, प्रवाल, त्वचा, शाखा तथा स्कंध के रूप में वनस्पति की दस प्रकार की अवस्थायें बताई गई हैं। उनका रूढ़, बहुसंभूत, स्थिर, उत्सृत, गर्भित, प्रसूत एवं संसार चरणों में क्रमिक विकास होता है। आगमों एवं शास्त्रों में इन्हें प्रत्येक काय एवं अनंतकाय (साधारण, निगोद) के रूप में वर्गीकृत किया है।^३ इनके अन्य नाम भी हैं। इनसे कभी-कभी साधारण जन को भ्रांति भी हो जाती है। प्रत्येक काय के वनस्पतियों में एक पूर्ण शरीर में एक जीवता पाई जाती है जबकि अनन्तकाय कोटि में एक शरीर में अनेक जीवता पाई जाती है। इनके शरीर के विभिन्न अंगों से नया प्रजनन हो सकता है। इसलिये शास्त्रों में इन्हें सामान्यतः अभक्ष्य ही, अहिसक दृष्टि से, बताया है। सरस^४ ने सभी वनस्पतियों को चौदह रूपों में बताया

है। जीव विचार प्रकरण के अनुसार प्रत्येक वनस्पति फल, फूल, त्वचा, मूल, पत्र और बीज के रूप में पाई जाती है और इसका भक्ष्यभाग प्रायः पृथ्वी, मिट्टी, भूमि या जल-तल के ऊपर ही होता है। ये १२ प्रकार की होती हैं। इसके विपर्यास में, प्रायः अनन्तकाय वनस्पति मिट्टी के अन्दर उत्पन्न होते हैं, कंद रूप में होते हैं। पर, इनके कुछ लक्षण ऐसे भी हैं जो इनके मिट्टी के ऊपर उत्पन्न होने पर भी लागू होते हैं। इनके २० भेद हैं। इसके नाम ब उदाहरण सारणी २ में दिये गये हैं। इससे पता चलता है कि सामान्यतः प्रत्येक वनस्पति की १,२,६,७,९ एवं १२ कोटियों के २१३ वनस्पतियों के विभिन्न अवयव हमारे लिये भक्ष्य माने जा सकते हैं। पर इनमें से बहुबीजी ३३ प्रकारों को दसवीं सदी के बाद अभक्ष्य ही बताया गया है। इनमें तेंदू, कंधा, बेल, बिजौरा, आंवला, फणस, अनार, पंचोदुंबर, पीपर, सरसों, नीम और अनेक अप्रचलित वनस्पतियां समाहित हैं। अनेक वृक्षों की त्वचादि खाद्य के रूप में तो नहीं, पर औषधों के काम आती है। इनमें कुछ (जुंदुंबर) की अभक्ष्यता तो अनेक कारणों से मानी गई है, पर अनेकों के उपयोग सामान्य हैं चाहे वे सैद्धांतिक दृष्टि से अभक्ष्य ही क्यों न हों। शंकर ने बताया है कि अनन्तकायों के २० भेदों के बावजूद इस कोटि की ३२ सुजात

सारणी २ : प्रत्येक और साधारण वनस्पतियां

अ. प्रत्येक वनस्पति : १२

१. वृक्ष
(अ) एकबीजी-आम आदि ३०
(ब) बहुबीजी-तेंदू, कंधा आदि ३३
२. गुच्छ : बैंगन, अरहर आदि ४६
३. गुल्म (झाड़ीदार) : गुलाब, २४
मोगरादि
४. बलय (गोलाकार) : ताड़, १७
चीड़ आदि
५. लता : पद्म, नाग आदि १०
६. बेल : पान, तरबूज, जरामासी ४१
७. गांठ : गन्ना, वेत्र, वंशादि १९
८. तृण : दर्भ, कुश, अर्जुन आदि १८
९. हरिन (पत्र शाक) : बधुआ, २८
१०. जलरुह : काई, कुमुद आदि २७
११. कुहण (अंकुरित) : कुरुरमुत्ता, १०
कुणक
१२. औषधि (अन्न) : गेहूं, घान, २६
मूंगादि

—

३३९

ब. अनन्तकाय वनस्पति : २०

१. कंद प्याज, लहसुन, आलू आदि
२. अंकुर अंकुरित दालें
३. किसलय नई रक्तिम पत्तियां
४. भूमिस्फोट कुरुरमुत्ता
५. आर्द्रकत्रिक अदरक, हल्दी, कचूर
६. गाजर गाजर
७. मौथा मौथा, नागर मौथा
८. बधुआ की भाजी बधुआ, बालक आदि
९. थेग भाजीदार कंद
१०. पल्लक विशिष्ट शाक
११. गडूची गिलोय (औषधि)
१२. गुग्गुल औषधि
१३. छिन्नरुह खल्लड़, खरसान
१४. थोर कांटेदार औषध वृक्ष
-
१५. कुमारी पौधे
१६. बेल शतावरी, सुआवेल
१७. पणक फंगस
१८. शीवाल काई
१९. कोमल फल कच्चे फल
२०. गूड़ शिर जूट, सन आदि

वनस्पतियां हैं जो सैद्धांतिक दृष्टि से अभक्ष्य हैं। इनमें कुछ ऐसे पदार्थ और कोटियां हैं जो दोनों भेदों में आती हैं। उदाहरणार्थ—विभिन्न पत्र शाक या भाजियों प्रत्येक वनस्पति की हरित कोटि में आती हैं। इनका अनंतकायों में अनेक नामों से समाहरण है। मूली, हरित और कंद—दोनों में है। बेल की कोटि दोनों ओर है। पर इनके अन्तर्गत वनस्पतियों के नाम भिन्न हैं।

आगमों के अनुसार अर्धपक्व, अनग्निपक्व, अशस्त्रप्रतिहत वनस्पति चाहे वे किसी कोटि के हों, अभक्ष्य माने गये हैं, अन्य दशाओं में वे भक्ष्य हैं। मूलाचार में भी इनके अनग्निपक्वता की दशा में अनेषणीयता की चर्चा है। आचारांग और दशवैकालिक में जल और उसके विभिन्न ओषणों के अतिरिक्त, लगभग तत्कालीन प्रचलित १०० वनस्पतियों के नाम दिये हैं। निशीथचूर्ण में भी तत्कालीन भक्ष्यों के रूप में प्रयुक्त होनेवाली ७२ वनस्पतियों के नाम हैं। यह मत समीचीन नहीं लगता कि सामान्य जनो के लिये वर्णित अभक्ष्यता के सिद्धांत श्रमणों पर लागू नहीं होते।^{१०}

अभक्ष्यों की धारणा का विकास

ऐसा प्रतीत होता है कि आगमोत्तर काल में भक्ष्याभक्ष्य विचार में अपक्वता एवं अशस्त्र प्रतिहतता की धारणा में परिवर्धन हुआ। जब उत्तरकाल में वनस्पतियों का वर्गीकरण हुआ, तब प्रत्येक कोटि की तुलना में अनंतकायिक कोटि का, अहिंसक दृष्टि से, सापेक्ष अभक्ष्यता का मत प्रस्तुत किया गया। इस दिशा में दिग्म्बराचार्यों का अधिक योगदान रहा। उनके विवरण पर्याप्त निरीक्षण-क्षमता और उसकी तीक्ष्णता को व्यक्त करते हैं। शातिसूरि ने भी ग्यारहवीं सदी में इसी मत का अनुकरण किया है। समय के साथ उत्तरवर्ती आचार्यों ने यह सोचा कि सामान्य जन का आहार साधु के समान प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने अहिंसक दृष्टि बनाये रखते हुए श्रावकों के आहार संबंधी अनेक सूत्र बनाये। इस हेतु सर्वप्रथम व्रतों की धारणा प्रस्तुत की गई। इनके अन्तर्गत आहार को नियंत्रित करनेवाली भोगोपभोग परिमाण एवं प्रोषधोपवास आदि की प्रवृत्तियां विकसित हुईं। प्रवचनसार^{११} में तो केवल अरस, मधु और मांस रहित आहार को ही युक्ताहारी बताया है। समय के साथ, इनमें पर्याप्त कठोरता आने लगी। तब सरलता की दृष्टि से, अहिंसक दृष्टि के विकास एवं व्यवहार के लिये हिसामय/हिसाजन्म खाद्यों के निषेध के लिये मूलगुणों या सार्वकालिक व्रतों की धारणा प्रतिपादित की गई। यह प्राचीन दिग्म्बर या श्वेताम्बर ग्रंथों में नहीं देखी जाती। पांचवीं सदी के समन्तभद्र के मिश्र वर्गीकरण (अभक्ष्य त्याग, व्रतपालन) की तुलना में आठवीं सदी के जिनसेन ने अष्ट सार्वकालिक व्रतों में केवल आठ अभक्ष्य पदार्थों को ही रखा—

[१-३] मद्य, मांस, मधु का त्याग [ये जेवी क्रिया से प्राप्त होते हैं या इनमें सूक्ष्म एवं त्रस जीव दृष्टिगोचर होते हैं] और [४-८] पंचोदुंबर फल त्याग [इनमें भी सूक्ष्म जीव होते हैं] फलतः प्रारम्भ में मूलतः आठ पदार्थ ही अभक्ष्य माने जाते थे।^{१२} इन्हें सोमदेव, चामुंडराय, देवसेन, पद्मनंदि, आशाधर पंडित, राजमल, मेधावी और कुंभुसागर ने भी स्वीकृत किया है। शिवकोटि ने अपनी रत्नमाला में इन आठ मूलगुणों को बाल मूल गुण कहा है और वास्तविक मूलगुण समन्तभद्र के ही माने हैं। कहीं-कहीं मधु के

खण्ड १६, बंक २ (सित०, ६०)

२३

स्थान पर द्यूत त्याग मूलगुण कहा गया है। यह तो निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि सप्त व्यसनों की परम्परा कब से चालू हुई, पर इनमें भी मद्य-मांस को व्यसन [अभक्ष्य, त्याग] माना है। मधु यहाँ भी छूट गया लगता है। कुंदकुंद ने भी मद्य को अयुक्ताहार में सम्मिलित नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि मधु और मद्य की तर्कसंगत अभक्ष्यता विवाद का विषय रही है। आजकल अंडे को मांसाहार के रूप में मानने के और उसकी अभक्ष्यता के वैज्ञानिक कारण उपलब्ध हैं, पर शास्त्रों में वर्णित मूलगुणों की किसी भी सूची में इनका नाम नहीं है। इसके विपर्यास में औप-पातिक सूत्र में आहार-ग्रास का मानक बताया गया है। क्या सूत्रकाल में बिहार में अण्डे का इतना प्रचलन था कि वह मानक बन सके? दिगम्बरों ने अच्छा किया कि १००० चावलों के दानों को ग्रास का मानक बताया। समय की मांग है कि इनकी अभक्ष्यता को कहीं न कहीं धार्मिक मान्यता अवश्य दी जावे चाहे आठ की जगह नौ या दस मूलगुण ही क्यों न हो जावें? आशाधर ने तो सभी मान्यताओं का समाहार कर नये रूप में आठ मूलगुण बताये हैं। इनमें उपरोक्त अभक्ष्यों के अतिरिक्त अन्य गुण भी सम्मिलित किये गये हैं।

अभितगति ने रात्रिभोजन त्याग मिलाकर मूलगुणों की संख्या ६ कर दी। अमृत-चंद्र^{१३} ने मक्खन, अनन्तकाय एवं रात्रि भोजन की अभक्ष्यता बताकर इनकी संख्या ११ कर दी। उत्तरवर्ती समयों में अभक्ष्य पदार्थों की संख्या बढ़ती गई। समंतभद्र एवं पूज्यपाद ने मूली, अदरक, मक्खन, नीम व केतकी के फूलों को अभक्ष्य बताया था। हेमचंद्राचार्य ने द्विदल को सर्वप्रथम अभक्ष्यों में गिनाया। आगमों के अनुरूप आशाधर ने भी नाली, सूरण (कंदमूल), द्रोण पुष्प आदि सभी प्रकार के अनन्तकायों को अभक्ष्य बताया। सोमदेव ने प्याज को उसी कोटि में रखा। उन्होंने कच्चे दूध से बने दही आदि के नये व पुराने द्विदल को अभक्ष्य बताते हुए कलींदा न खाने का भी उल्लेख किया है। वर्षा ऋतु में अदलित द्विदल धान्य व पत्रशाक नहीं खाना चाहिये। सात प्रकार की अनन्तकाय वनस्पतियों में बीजोत्पन्न गेहूँ आदि धान्य भी समाहित किये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्णन एक अतिरेक है। इसका समाहार नेमचंद्राचार्य^{१४} ने पहले ही यह कह कर दिया था कि सभी वनस्पति दोनों प्रकार के होते हैं। अपने जन्म से अन्तर्मुहूर्त तक वे अनन्तकाय ही होते हैं, उत्तरवर्ती समय में इनमें विशेष भेद हो जाता है। आजकल यह भी माना जाता है कि ये सभी वनस्पति संक्रमित या रोगाक्रांत होने पर दूसरे सूक्ष्म जीवों का आधार बन जाते हैं। अतः आश्रयाश्रयी भाव से भी ये अभक्ष्यता की कोटि में आ सकते हैं।

ऐसा संभव है कि आशाधर के उत्तरवर्ती समय में जैसे-जैसे नये वनस्पतियों एवं खाद्यों का ज्ञान होता गया, उनकी भक्ष्याभक्ष्य कोटि पर विचार किया जाने लगा। आजकल इनके समेकीकृत वर्गीकरण के रूप में २२ अभक्ष्य माने जाते हैं। साध्वी मंजुला^{१५} के अनुसार इनका सर्वप्रथम उल्लेख धर्मसंग्रह नामक ग्रन्थ में मिलता है। दौलतराम^{१६} के जैन श्रिया कोष में भी इनका नाम है। इन नामों को सारणी ३ में दिया जा रहा है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक सूची में कुछ अन्तर है। जीव विचार प्रकरण में द्विदल का नाम नहीं है, इसके बदले कच्चे नमक का नाम है। इसी प्रकार दौलतराम

ने हिम तथा मृत्तिका जाति के पदार्थ छोड़ दिये हैं। इसके बदले 'घोल बड़ा' लिया है जो द्विदल या चलितरस का ही एक रूप है। इन अभक्ष्यों की जैन संप्रदाय में पर्याप्त मान्यता है। इनका आधार उपरोक्त पांच आधारों में से एकाधिक है।

सारणी ३ : विभिन्न ग्रन्थों में अभक्ष्यों के रूप

१. धर्मसंग्रह ¹⁰	जीव विचार प्रकरण ¹¹	दीलतराम ¹²	अनंतकाय विचार ¹³
१-४. चार विकृतियां	चार विकृतियां	चार विकृतियां	चार विकृतियां
मद्य	मद्य	मद्य	मद्य
मांस	मांस	मांस	मांस
मधु	मधु	मधु	मधु
मक्खन	मक्खन	मक्खन	मक्खन
५-९. पांच उदुंबर फल	पांच उदुंबर फल	पांच उदुंबर फल	पांच उदुंबर फल
१०. बर्फ	बर्फ	बर्फ	बर्फ
११. ओला	ओला	ओला	ओला
१२. विष	विष	विष	विष
१३. रात्रि भोजन	रात्रि भोजन	रात्रि भोजन	रात्रि भोजन
१४. बहुबीजक	बहुबीजक	बहुबीजक	बहुबीजक
१५. अज्ञात फल	अज्ञात फल	अज्ञात फल	अज्ञात फल
१६. अचार मुरब्बा	अचार मुरब्बा	अचार मुरब्बा	अचारादि
१७. अनंतकायिक	अनंतकाय	कंदमूल	अनंतकाय
१८. बेंगन	बेंगन	बेंगन	बेंगन
१९. चलित रस	चलित रस	चलित रस	चलित रस
२०. आमगोरस- संपृक्त द्विदल	—	द्विदल	—
२१. तुच्छ फल	तुच्छ फल	तुच्छ फल	तुच्छ फल
२२. मृत्जाति	कच्ची मिट्टी	—	मृत्जाति
२३. —	अपक्व लवण	—	—
२४. —	—	घोलबड़ा	घोलबड़ा
२५. —	—	गारी	—

यहां यह भी स्पष्ट करना चाहिये कि दिग्म्बर ग्रन्थों में अनेक कोटियों के पर्याप्त उदाहरण नहीं पाये जाते। साथ ही, इनके अनेक नामों से ऐसा लगता है कि ये समय-समय पर जोड़े गये हैं। यही कारण है कि अनेक नामों से पुनरावृत्ति दोष का आभास होता है। उदाहरणार्थ—चलितरस कोटि में मद्य, मक्खन, अचार-मुरब्बा एवं द्विदल की कोटियां समाहित हो जाती हैं। बहुबीजक में बेंगन आ जाता है। पुनरावृत्तियां सुधारी जानी चाहियें। वर्तमान युग में इन अभक्ष्यों पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। नवयुग में अभक्ष्यों को कुल चार कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. किण्वित	२. परिरक्षित	३. त्रस/स्थावर जीव	४. विविध
मद्य	अचार-मुरब्बा	घात	विष
मक्खन		मांस	बर्फ
चलितरस		मधु	बोला
द्विदल		पंचोदुंबर	तुच्छ फल
धोलुबड़ा		अनंतकाय	अज्ञात फल
		बहुबीजक	मृतजाति
		बैंगन	रात्रिभोजन
			अपक्व लवण

इनकी अभक्ष्यता के संबंध में शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक चर्चा आगे की जा रही है ।

किण्वित अभक्ष्य पदार्थ

(१) मद्य एवं मादक पदार्थ

वर्तमान में प्रचलित बाइस अभक्ष्यों में प्रायः सभी प्रकार के किण्वित एवं विकृत पदार्थ समाहित होते हैं । इनमें चार महा विकृतियां मुख्य हैं : मद्य, मक्खन, मधु और मांस । इनमें से प्रथम दो मद्य और मक्खन किण्वन से उत्पन्न होते हैं । इनके अतिरिक्त 'नव पदार्थ' में दूध, दही, घृत, गुड़, मिठाई और तैल को भी विकृतियां ही माना है ।^{११} इनमें भी दही और घृत किण्वन उत्पाद हैं । अन्यो की विकृतितता विचारणीय है । इन छहों को समय-सीमा में अभक्ष्य नहीं माना जाता । यहां केवल अभक्ष्य विकृतियों पर ही विचार किया जाएगा । इनमें पहला स्थान मद्य का है ।

वस्तुतः मद्य शब्द से वे सभी पदार्थ ग्रहण किये जाने चाहिये जो उसके समान मादक प्रभाव उत्पन्न करते हैं । इनके अन्तर्गत गांजा, अफीम, चरस तथा एल.एस.डी., हीरोइन आदि नये संश्लेषित पदार्थ भी समाहित होने चाहिये । पुराने समय में इनका समुचित ज्ञान/प्रचार न होने से, संभवतः इनका अल्लेख न हो पाया हो, पर ये सभी मादक और नशीले पदार्थ हैं । शास्त्री^{१२} ने इन सभी का अभक्ष्यों की मादक कोटि में समाहार किया है । फिर भी, मद्य में यह विशेषता तो है ही कि यह किण्वन या चलितरसन की क्रिया से प्राप्त होता है जबकि अन्य अनेक मादक पदार्थों के निर्माण में यह क्रिया समाहित नहीं है ।

मद्य या उसके विविध रूपों के विषय में शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक जानकारी सारणी ४ में दी गई है । इससे एतद्विषयक प्राचीन एवं नवीन तथ्यों के ज्ञान की तुलना की जा सकती है । मद्य के निर्माण और प्रभावों का शास्त्रीय विवरण उपासकाध्ययन, सागार-धर्माभृत, पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय तथा श्रावक धर्म प्रदीप आदि में पाया जाता है । वैज्ञानिकों ने भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त अध्ययन किया है । इससे पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के मद्यों का निर्माण कुछ विशिष्ट परजीवी वनस्पतियों की कोशिकाओं की विकास प्रक्रिया के फलस्वरूप होता है । यह विकास प्रक्रिया एक रासायनिक क्रिया है जिसके कारण ये कोशिकायें अपने विकास हेतु शर्करामय पदार्थों को विदलित करती हैं । इसके फलस्वरूप मद्य द्वितीयक उत्पाद के रूप में प्राप्त होता है । इस प्रक्रिया में

ऊष्मा निकलती है, साथ ही जल की वाष्प एवं कार्बन डाइ-ऑक्साइड प्राप्त होते हैं। इनसे उपकरण में पर्याप्त फेन बनता है और उफान-सा आता दिखता है। उपकरण भी गरम हो जाता है। आयुर्वेद में भी आसव-अरिष्ट बनाते समय ऐसी ही स्थितियों को नियंत्रित करने के लिये स्थूल उपाय किये जाते हैं। संभवतः इसी प्रकार के निरीक्षणों के कारण मद्य-निर्माण के समय जीवोत्पत्ति या मद्य के बिन्दुओं में जीवों के अस्तित्व का मत आचार्यों ने प्रस्तुत किया। यद्यपि इस प्रक्रिया में सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व से सम्बन्धित यह निरीक्षण महत्त्वपूर्ण है पर उसकी भूमिका की चर्चा आधुनिक दृष्टि से मेल नहीं खाती।

सारणी ४ : मद्य-संबंधी प्राचीन एवं नवीन तथ्य

प्राचीन	नवीन
१. उत्पादन	
(१) मद्य सुराबीज, गुड़ आदि को सड़ाकर (किण्वितकर) बनाया जाता है।	(१) विभिन्न प्रकार के मद्य शर्करा युक्त (महुआ, गुड़, धान्यादि) पदार्थों के यीस्ट कोशिकीय किण्वन से प्राप्त होते हैं।
(२) इसके निर्माण के समय अनेक रसज/त्रस जीव उत्पन्न होते हैं।	(२) ये कोशिकायें परजीवी वनस्पति हैं। ये अपने विकास के लिये शर्कराओं को विद्वेलित करती हैं और मद्य बनता है।
(३) मद्य के रस में भी जीव उत्पन्न होते हैं।	(३) जब इस क्रिया में मद्य की मात्रा १०-१५% से अधिक हो जाती है, तब इनकी सक्रियता स्वयमेव समाप्त हो जाती है और मद्य निर्माण बंद हो जाता है।
(४) मद्य की एक बूंद में अनेक जीव उत्पन्न होते हैं। यदि वे बाहर फैलें, तो पूरा संसार उनसे भर जाएगा।	(४) शुद्ध मद्य एथिल ऐंस्कोहल नामक यौगिक है। विभिन्न पेय मंदिराओं में तथा आसव-अरिष्टादि औषधों में इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है।
	(४) किण्वन की क्रिया से आजकल बहुतेरे खाद्य, औषध और औद्योगिक पदार्थ बनाये जाते हैं। इस क्रिया से निर्मित लगभग ८४ पदार्थों की सूची शीम और ब्रिक ने अपनी पुस्तक में दी है।
२. प्रभाव	
(१) मद्यपान से रसज/त्रस जीवों की हिसा होती है।	(१) यह वाष्पशील पदार्थ है और त्वचा पर पड़ने पर यह शीघ्र वाष्पित होता है जिससे त्वचा का तापमान कम होता है और ताजगी का अनुभव होता है।

(२) उच्च सांद्रण में यह कोशिकाओं से जल खींचकर उन्हें अक्रिय बना देता है, विकृत कर देता है। इससे यह कीटाणुनाशक एवं प्रतिरोधी होता है।

(३) तनु मद्य क्षुधावर्धक होता है। यह पेट की आंतों में हिस्टैमीन एवं गैस्ट्रीन विमोचित कर स्त्रावों को बढ़ाता है।

यह मनोवैज्ञानिकतः उत्तेजक एवं ऊष्मादायी होता है।

१५% से उच्च सांद्रण का मद्य स्त्रावों की गतिशीलता रूद्ध करता है, श्लेष्मा-क्षिप्ली को उत्तेजित करता है, गैस, वमन एवं मितली लाता है तथा पेट और आंतों की एन्जाइमी क्रिया को प्रतिबंधित करता है।

(२) मद्य मन को मोहित करता है। मद्यपान से अभिमान, भय, क्रोध आदि हिंसक वृत्तियाँ उदित होती हैं। मद्यपान धार्मिक गुणों को नष्ट करता है।

यह उन्माद, मूच्छा, मिर्गी एवं मृत्यु तक का कारण होता है।

मद्य दुर्गति का कारण है। मद्य चित्त-विभ्रम उत्पन्न करता है।

मद्य कु-योनिज भोजन है।

मद्य पायियों की संगति भी दोष जनक है।

(४) यह केन्द्रीय नाडी तंत्र को अवनत कर सुखाभास या तनाव-शैथिल्य का आभास देता है। इस कारण ही मद्यपायी व्यक्ति समस्त प्रतिबंधों से मुक्त होकर निन्दनीय या असामाजिक व्यवहार करता है।

(५) मद्य मस्तिष्क के जालकों एवं सक्रियता नियंत्रक केन्द्रों को प्रभावित कर उन्हें अक्रिय करता है। यह दृष्टि की तीक्ष्णता एवं मस्तिष्क व मांसपेशियों की समन्वय-क्षमता कम करता है।

(६) यह वेदनाहर नहीं है, फिर भी यह वेदना की अनुभूति-गम्यता को सीमा को बढ़ाता है और सुखाभास देता है।

(७) ५-६ ग्राम से अधिक मद्य पीने पर मात्रानुसार प्रभाव बढ़ते हैं और बेहोशी तक आ जाती है। इसकी अधिक मात्रा सुषुम्ना को प्रभावित करती है, हृदय की कंपन बढ़ाती है, रक्तचाप बढ़ाती है एवं हृदय-पेशियों को हानि पहुंचाती है।

(८) मद्य के प्रभाव से यकृत वसीय अम्लों का संश्लेषण एवं संचय अधिक करने लगता है। इससे भूख कम होती है और गैस बनता है। मद्यपान से मूत्रलता बढ़ती और मूत्र-नियंत्रक हार्मोन का उत्पादन कम होता है।

मद्य वासना का उत्तेजक है

(९) शरीर-तंत्र में मद्य का अधिकांश यकृत में चयापचित होकर उष्मा उत्पन्न करता है। लगभग ०.६ लीटर मद्य मारक हो सकता है।

३. उपचार

मद्य के व्यसन को दूर करने में मनी-वैज्ञानिक विधियों, योग, खानपान-परिवर्तन तथा डाइ-सल्फिराम-जंसी औषधियां सहायक होती हैं।

सारणी ४ से यह स्पष्ट है कि मद्य निर्माण के समय वनस्पति कोशिकायें बाहर से डाली जाती हैं। वे विकसित होती हैं और अपनी जनसंख्या में अल्प काल में ही अपार वृद्धि कर लेती हैं। मद्य के किंचित् अधिक सांद्रण होने पर ये कोशिकायें विकृत होकर अक्रिय हो जाती हैं, अधिकांश अवक्षेपित हो जाती हैं। इसलिये मद्य से और मद्य में जीवोत्पत्ति की बात वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण नहीं है। हां, यह अवश्य है कि आसब, अरिष्ट या अनेक मदिराओं का आसेवन नहीं किया जाता, अतः उनमें एकेन्द्रिय तथा अक्रियकृत वनस्पति कोशिकायें विलयन, कोलायड या निलंबन के रूप में बनी रहती हैं। लेकिन उत्तम कोटि की मदिराओं के आसवित होने से उनमें यह दोष नहीं पाया जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शास्त्रीय विवरण अनासवित मद्यों के आधार पर किया गया है क्योंकि सामान्य जन इनका ही उपयोग करते हैं। मद्योत्पादी वनस्पति की ये कोशिकायें त्रस हैं या स्थावर—इस पर पिछली सदी के वैज्ञानिकों में विवाद रहा है। इनके लिये स्थावर और त्रसों के बीच एक पृथक् जीव श्रेणी मानी गई थी। पर अब इन्हें वनस्पति की श्रेणी में ही लिया जाता है।^{१९} फलतः त्रस जीव घात का सिद्धांत मद्य की अभक्ष्यता का आधार नहीं मानना चाहिये। इसके अन्य प्रभाव ही इसकी अभक्ष्यता को पुष्ट करते हैं।

शास्त्रों में मद्य की अभक्ष्यता के कारणों में उसके अनेक व्यक्तिगत व सामाजिक कुप्रभावों को निरूपित किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि मद्य की अल्पमात्रा (६-१० मिली०) औषध, ताजगी, ज्वर-शमन आदि अनेक कारणों से लाभदायी हो सकती है पर अधिक मात्रा हृदय, यकृत, वृक्क तथा मस्तिष्क के कुछ सक्रिय भागों को प्रभावित करती है। इस कारण ही सुखाभास, मोहकरता एवं

असामाजिकता के लक्षण प्रकट होते हैं। यह सुखाभास की अनुभूति ही इसके व्यसन का कारण बनती है। शास्त्रों में मद्य के जिन प्रभावों के वर्णन हैं, वे अधिक मात्रा में मद्यपान से शरीर-तंत्र के विभिन्न घटकों पर होने वाले प्रभावों के निरूपक हैं। वैज्ञानिकों ने इन दृष्ट प्रभावों के अन्तरंग कारणों का भी ज्ञान किया है। उनकी शोधों ने यह भी बताया है कि अफीम में विद्यमान कोडीन-मोर्फिन, गंजे-चरस-भाग में विद्यमान कैनोविनोल की क्रिया भी, संरचनात्मक भिन्नता के बावजूद भी, शरीर-तंत्र के सक्रिय अवयवों पर मद्य के समान ही होती है। एल. एस. डी. हीरोइन और वर्तमान स्मैक के भी समरूप प्रभाव होते हैं। ये मद, मोह एवं विभ्रम उत्पन्न करते हैं। वैज्ञानिक मद्यपायी की विभिन्न निन्दनीय एवं असामाजिक प्रवृत्तियों की भली-भाँति व्याख्या कर सकता है। अतः औषधीय या बाह्यतः संपर्कित (मर्दनादि) मद्यमात्रा से अधिक मद्यपान हमारे लिये हानिकारक है। निशीथ चूर्णि^{२५} में भी मद्य के व्यसन को सोलह सामाजिक बुराइयों में गिना गया है, फिर भी, बीमारी में उसकी भक्ष्यता स्वीकृत है। दिगंबराराचार्य इसे स्वीकृत नहीं करते। इस प्रकार, स्थावर-जीव-घात, मादकता, विकृति एवं अनुपसेव्यता (लोक विरुद्धता) के कारणों से मद्य की अभक्ष्यता और भी प्रयोगसिद्ध रूप से पुष्ट हुई है। इसमें उत्पाद दोष भी है और प्रभाव-दोष भी है। इसके समान अन्य मादक द्रव्यों के उपयोग के प्रति भी भारत सरकार तक चिन्तित है। उनमें उत्पाद दोष चाहे न भी हो, प्रभाव दोष तो है ही। सरकार दृश्य-श्रव्य एव दूर-दर्शन के माध्यम से इनके कुप्रभावों के प्रति जन-जागरण कर रही है। जैनों के लिये यह प्रसन्नता की बात है।

(२) मक्खन

मद्य के समान मक्खन को भी विकृति माना गया है। पर यह मान्यता कब प्रचलित हुई, यह स्पष्टतः ज्ञात नहीं क्योंकि इसका उल्लेख अनेक आगमों में भी है। आ० हरिभद्र, अमृतचंद्र, अमितगति, आशाधर तथा दौलतराम कासलीवाल ने बताया है कि दूध से बने दही को मथकर मक्खन निकालने के बाद उसे एक-दो मुहूर्त (१-१½ घंटे) में तपाकर घृत के रूप में परिणत कर लेना चाहिये। इसके बाद मक्खन में उसी वर्ग के असंख्यात संमूर्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसके खाने से मधु और मांस के समान दोष होता है। वस्तुतः मक्खन दूध या मलाई के आंशिक किण्वन से प्राप्त होता है। उग्रदित्य ने बताया है कि इसके गुण दूध से मिलते-जुलते होते हैं।^{२६}

१. दूध : शीत, मधुर, चिक्कण, हितकर, रोगनाशक, कामवर्धक, पुष्टिकर, अमृत
२. मक्खन : शीत, मधुर/अम्ल, पथ्य, हितकर, रोगनाशक, अतिवृध्य — —
३. घृत : शीत, पाचक, — दृष्टिवर्धक, रोगनाशक मेध्य, पुष्टिकर, रसायन
४. दही : उष्ण, अम्ल, चिक्कण, मलावरोधी, वातनाशक, वृध्य, विषहर, गुरु
५. तक्रः उष्ण, अम्ल, रुक्ष, कषाय, मलशोधक, कफनाशक — अग्निवर्धक, लघु

दूध और मक्खन में यह अन्तर है कि दूध में पानी अधिक, वसा कम होता है और मक्खन में वसा अधिक (८५%) और जल तथा अन्य पदार्थ कम (१५%) होते हैं। वस्तुतः मक्खन बनाने की प्रक्रिया दूध के तैल—जल इमल्शन को जल-तैल

इम्लखन में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है। इसे सरल करने के लिये यह पाया गया कि यदि प्रासुक या पेन्स्यूरीकृत दूध या मलाई को लैक्टिक एसिड बैसिली नामक बैक्टीरियाई किण्व या तद्युक्त दही, तक्र या अम्ल पदार्थों से ऋतु व तापमान के अनुसार १०-१८ घंटे तक उपचारित किया जाए, तो दूध का बसीय भाग किंचित् किण्वित होने के कारण सरलता से पृथक् किया जा सकता है। इस क्रिया में दूध के कुछ विलेय अंश खट्टे लैक्टिक अम्ल या दही में परिणत होकर मक्खन में कुछ खटास पैदा करते हैं और उसे विशिष्ट स्वाद व गंध देते हैं। फलतः मक्खन में न केवल दूध की वसा ही रहती है, अपितु उसमें विद्यमान कैल्सियम आदि के लक्षण तथा केसीन आदि प्रोटीन भी रहते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि मक्खन प्राप्त करने में बैक्टीरियाई परिवर्तन होता है। ये बैक्टीरिया एक-कोशिकीय सूक्ष्म जीवाणु माने जाते हैं और अपने विकास के समय दूध के वसा-विहीन कुछ अवयवों को लैक्टिक अम्ल जैसे पाचक घटकों में परिणत कर उसे और भी उपयोगी बनाते हैं। इसी आधार पर दही और मट्टे को स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम खाद्य माना गया है। वस्तुतः दही, तक्र और मक्खन—सभी दूध की विकृतियां हैं। इसीलिये आज इन्हें भोजन का अनिवार्य घटक माना जाता है। फलतः यह स्पष्ट है कि मक्खन का प्रभाव उत्तम है। संभवतः यही कारण है कि पहले इसे अभक्ष्य नहीं माना जाता था। इसकी अभक्ष्यता की मान्यता उत्तरवर्ती है। इसमें शास्त्रीय दृष्टि से उत्पाद दोष माना जा सकता है, परंतु प्रभाव दोष नहीं। अतः मद्य के विपर्यय में, यह बहुफल-अल्पघाती है और मद्य निषेध की तुलना में, इसके विषय में अल्प विवरण ही मिलता है। यदि बुद्धि एवं वीर्य-वर्धकता कोई दोष है, तो मक्खन निश्चित रूप से इस दोष से दूषित है। वैज्ञानिक दृष्टि से, मक्खन बसीय होने से उससे शरीर तंत्र के चालन के लिये अन्न की तुलना में दुगुनी ऊर्जा प्रदान करता है, अनेक विटैमिन और लवण प्रदान करता है। इस आधार पर मक्खन की अभक्ष्यता गृहस्थ के लिये उतनी महत्त्वपूर्ण न हो जितनी साधु के लिये संभावित है।

(३-४) चलितरस और द्विदल

चलित रस शब्द से ऐसे खाद्य पदार्थों का बोध होता है जिनके प्राकृतिक रस या स्वाद में कुछ दिनों रखे रहने पर, किण्वित होने पर और संभवतः संधानित करने पर परिवर्तन आ गया हो। वैज्ञानिक दृष्टि से तो दूध को भी चलितरस मानना चाहिये क्योंकि यह अनेक प्रकार के आहार-घटकों के जीव-रासायनिक परिवर्तन के फलस्वरूप खचित होता है। पर यह खट्टा नहीं होता, अतः इसे चलितरस या विकृति नहीं माना जाता। इसीलिये इसके उपयोग में धार्मिक प्रतिबंध नहीं है। पर इसके किण्वन से उत्पन्न सभी उत्पाद चलितरस होते हैं। संभवतः घी चलितरस इसलिये नहीं माना जाता कि वह भी खट्टा नहीं होता। यह सामान्य धारणा है कि जल युक्त, बासे खाद्य पदार्थ (इन्हें वायुजीवी जीवाणु अपना घर बनाकर, विकसित होते समय अंशतः विदलित करके उनमें खटास आ जाती है) अथवा किण्वन क्रिया से तैयार किये पदार्थों में विकृति के कारण खटास आ जाती है और वे विकारी हो जाते हैं। इस दृष्टि से सभी दक्षिण भारतीय प्रमुख खाद्य (इडली, डोसा, उत्तपम्, ढोकला, मट्टा आदि) अभक्ष्यता की कोटि

में जाते हैं। उत्तर भारत की जलेबी, बड़ा, छोले-भटूरे, दहीबड़ा, आधुनिक युग की ब्रेड-विस्किट आदि और नान, खमीर का चूर्ण, बासी रोटी और भात, नीबू का सिरका आदि भी चलित रस में ही समाहित होते हैं क्योंकि उपरोक्त सभी पदार्थ मूल खाद्यों के किण्वन से तैयार किये जाते हैं। संभवतः इस प्रक्रम से बनेवाला सर्वप्रथम खाद्य 'मदिरा' ही होगी, इसलिये चलित रसों के भक्षण में भी मदिरा के समान दोष माना गया है।

अहिंसा की सूक्ष्म धारणा एवं प्राकृतिक चिकित्सकों के मन से हमारे आदर्श आहार में तो प्राकृतिक पदार्थों के सामान्य या उबले हुए रूप उनके पीसने या उबालने से प्राप्त चूर्ण या रस एवं दूध-फल ही होना चाहिये। परन्तु मानव ने यथासमय आकस्मिक रूप में अनुभव किया कि खाद्यों को अग्नि पर पकाने से या किण्वित कर उपयोग करने से उनकी सुपाच्यता एवं रसमयता अधिक रुचिकर हो जाती है। इन क्रियाओं में खाद्यों के दीर्घाणु किञ्चित् बियोजित होकर लघु हो जाते हैं जिससे उनके स्वांगीकरण में पाचनतंत्र को भी कम मेहनत करनी पड़ती है। इसलिये कच्चे, उबले या अकिण्वित खाद्यों की तुलना में सामान्य आहार में अन्य प्रकार के खाद्य अधिक होते हैं। इनकी अभक्ष्यता का आधार इनमें जीवाणुओं (यीस्ट, बेक्टीरिया, फंजाई) की उत्पत्ति माना जाता है जो अहिंसक दृष्टि का निरूपक है। पर ये सभी जीवाणु अब वनस्पति कोटि के ही माने जाते हैं और ये ही किसी-न-किसी रूप में हमारे आहार के घटक हैं। इन जीवाणुओं की एक विशेषता यह भी है कि ये प्रायः एक कोशिकीय हैं और जीवन तत्त्व के निम्नतम स्तर के निरूपक हैं। इनकी तुलना में, अन्य वनस्पतियां बहु-कोशिकीय होती हैं। वस्तुतः 'विश्वग् जीवचिते लोके' से शरीर और परिवेश में व्याप्त इन्हीं सूक्ष्म जीवाणुओं का उल्लेख है। इनके बिना हम जीवित ही कैसे रह सकते हैं? यहां यह सूचना भी मनोरंजक होगी कि आचारांग चूला में अनेक प्रकार के धोबनों (आटा, तिल, तुष, चावल, मांड आदि) की भक्ष्यता चलित-रस (खट्टे) होने पर ही मानी गई है। आगमों में अन्यत्र भी ऐसे खट्टे पान-भोजनों का उल्लेख है। यद्यपि यह विवरण श्रमणों के लिये है, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि यह चलितरसता किण्वन या विकृति के बिना नहीं हो सकती। स्वास्थ्य की दृष्टि से ऐसे धोबन सुपाच्य एवं पाचक होते हैं। फलतः चलितरसी पदार्थों की अभक्ष्यता की समग्र धारणा पुनर्विचार चाहती है। इसका आधार उत्पाद दोष न होकर शरीर एवं मन पर होनेवाला शुभा-शुभ प्रभाव माना जाना चाहिये।

हेमचंद्राचार्य और सोमदेव ने द्विदल को अभक्ष्य बताया है। इसका सामान्य अर्थ ऐसे अन्नों से है जिनके दो समान टुकड़े किये जा सकते हों। प्रायः सभी दलहन द्विदल होते हैं। शास्त्रों में पुराने द्विदल को अभक्ष्य कहा है क्योंकि बरसात में, पुराने हो जाने पर या अन्य परिस्थितियों में वे धुन जाते हैं और उनमें जीवाणु तो क्या, त्रस जीव भी पाये जाते हैं। यह सामान्य अनुभव की बात है। इससे पुराने द्विदल चलित रस भी हो जाते हैं। अतः जीव वात की दृष्टि से इनकी अभक्ष्यता निर्वादाद है। यही नहीं, यह भी बताया गया है कि द्विदलों को कच्चे दूध या उससे बने दही-मट्ठे के साथ नहीं खाना चाहिये। इससे बूंदो का रायता, बड़े, धोल बड़े आदि सभी अभक्ष्यता की कोटि

में आ जाते हैं। द्विदलों की अभक्ष्यता से हमारे आहार का एक प्रमुख प्रोटीनी घटक ही समाप्त हो जावेगा। शास्त्रीय दृष्टि से, ऐसे खाद्यों में सूक्ष्म जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं। यह तो वातावरण एवं किण्वन का प्रभाव है। आशाधर ने इस विषय में कुछ उदारता दिखाई है। वे पकाये हुए दूध से बने दही-मट्ठे से मिश्रित द्विदल को भक्ष्य मानते हैं। फलतः द्विदल एवं दही-मट्ठा मिश्रित द्विदल खाद्यों की अभक्ष्यता पुराने या विकृत द्विदलों पर ही लागू माननी चाहिये, नये द्विदलों पर नहीं। अतः द्विदल के बदले 'विकृत या पुराने द्विदल' शब्द का उपयोग करना चाहिये। फिर भी, यदि चलित-रस की अभक्ष्यता है, तो आशाधर का मत खंडित ही रहेगा। यदि किण्वन से प्राप्त पदार्थों की कोटि एक ही बनाई जाती, तो अधिक अच्छा था। इससे अभक्ष्यों की संख्या कम होगी।

(क्रमशः)

संदर्भ :

१. आचारंग चूला, पृ० ७८, ८८, आगम प्र० समिति, ब्यावर, १९८०
२. रत्नकरण्डकभावकाचार—समंतभद्र, पृ० ४८, क्षीरसागर ग्रंथमाला, १९६०
३. भावकधर्मप्रदीप—जगन्मोहनलाल शास्त्री, पृ० १०७, वर्णो ग्रंथमाला, काशी, १९८०
४. आचारंग चूला, पृ० ७८, ८८, आगम प्र० समिति, ब्यावर, १९८०
५. वशबैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन—मुनि नथमल (सं०); पृ० ११३, ११९, तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९६७
६. उत्तराध्ययन—मुनि नथमल, पृ० ५१६
७. आचारंग चूला, पृ० ७८, ८८, आगम प्र० समिति, ब्यावर, १९८०
८. जीव विचार प्रकरण—शान्तिसुरीश्वर, पृ० ३४-६०, जैन मिशन सोसाइटी, मद्रास, १९५०
९. वही
१०. अनुसंधान पत्रिका (अंक-३)—साध्वी मंजुलाक्षी, पृ० ५३, जैन विश्व भारती, लाडनू
११. प्रवचनसार—कुंदकुंदाचार्य, पृ० २७७, २८१, पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ, १९५६
१२. सागर धर्माभूत—कलाशचन्द्र शास्त्री (अनु०) पृ० ४३-१२५, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८१
१३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय-अमृतचन्द्राचार्य, पृ० १०२, १२३, जैन स्वामं० ट्रस्ट, सोनमढ़ १९७६
१४. गोममटसार (जीवकाण्ड)—नेमचन्द्र चक्रवर्ती, प० प्रभावक मंडल, आगास, १९७२
१५. अनुसंधान पत्रिका (अंक-३)—साध्वी मंजुलाक्षी, पृ० ५३, जैन विश्व भारती, लाडनू
१६. जैन क्रिया कोष—दौलतराम कासलीवाल, पृ० ८, जिनवाणी प्र० कार्यालय, कलकत्ता, १९२७
१७. अनुसंधान पत्रिका (अंक-३)—साध्वी मंजुलाक्षी, पृ० ५३, जैन विश्व भारती, लाडनू
१८. जीव विचार प्रकरण—शान्तिसुरीश्वर, पृ० ३४-६०, जैन मिशन सोसाइटी, मद्रास, १९५०

खण्ड १६, अंक २ (सित०, ६०)

३३

१९. जैन क्रिया कोष—दौलतराम कासलीवाल, पृ० ८, जिनवाणी प्र० कार्यालय, कलकत्ता, १९२७
२०. अभक्ष्य अनन्तकाय विचार—पी० एम० शाह, जैन श्रेयस्कर संबल, महसाणा, १९८२
२१. नव पदार्थ—आचार्य भिक्षु, पृ० ११४, श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६१
२२. श्रावक धर्मप्रदीप—जगन्मोहन लाल शास्त्री, पृ० १०७, वर्णा ग्रंथमाला, काशी, १९८०
२३. एन इक्वायरी इन्टु लाइफ—जॉन ए. मूर (संयोजक), पृ० १९४, एच.बी.डब्लू. इंका०, न्यूयार्क, १९६३
२४. निशीथ चूर्ण—मधुसेन, पृ० १४४, पारबनाथ विद्याश्रम, काशी, १९८०
२५. कल्याण कारक—उग्रादित्याचार्य, रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर, १९४८



(शेषांश पृष्ठ १० का)

(ख) जंबूविजयजी	०	२९	१००
(vi) उत्तराध्ययन० अ० १३ चित्तसंभूत	०	७	१००
(vii) पणवणा सूत्र (१ से ७४, १३९ से १४७)	०	५३	१००
(viii) षट्खण्डागम अ० १.१ से ८१ सूत्र	५	७५	९४
(ix) बृहत्कल्पसूत्र अ० १ (घासीलालजी)	२	२०	९१
(x) विशेषावप्रयक भाष्य १०१ से २००	८	७५	९१
(xi) पञ्जोवसणा सूत्र २३२ से २६१	७	६८	९१

साहित्य में उपलब्ध प्रयोगों से स्पष्ट हो रहा है कि मध्यवर्ती पकार का प्रायः लोप नहीं मिलता है। उसका मुख्यतः वकार ही होता है। जैन और जैनेतर दोनों ही साहित्य में कम से कम ७४ प्रतिशत और अधिक से अधिक ९२ से १०० प्रतिशत प का व मिलता है। तब फिर व्याकरणकारों ने मध्यवर्ती पकार के विषय में प्रायः लोप का नियम कैसे बनाया होगा।

मध्यवर्ती वकार के प्रायः लोप का नियम तो बिलकुल ही उचित नहीं ठहरता है।

कहना पड़ेगा कि पकार और वकार के विषय में प्राकृत व्याकरणकारों के नियम शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाणों के विपरीत जाते हैं। कम से कम प्राचीनतम साहित्य की प्राकृत भाषा पर यह नियम लागू नहीं होता है अतः अर्धमागधी भाषा पर भी ये नियम लागू नहीं होते हैं।



‘त्रिलोकसार’ का कल्की राजा और यूनानी लेखकों का सैण्ड्राकोटस क्या एक हैं ?

□ डॉ० परमेश्वर सोलंकी*

श्री भारत धर्म महामंडल द्वारा संरक्षित श्री निगमागम पुस्तक भाण्डार की ओर से संवत् १९६३ में ‘कल्कि पुराण’ का प्रकाशन हुआ था। काशी से प्रकाशित यह कल्की पुराण महर्षि वेदव्यास प्रणीत कहा गया किन्तु वास्तव में वह युग-परिवर्तन की कामना का परिचायक है और किसी क्रान्तदर्शी कवि की कृति है। इसके तीन अंश और ३५ अध्यायों में मात्र १३६६ श्लोक हैं जबकि ‘पुराणोपपुराणसंख्यामान’ अनुसार कल्कि पुराण में ६१०० श्लोक बताए गए हैं।

कल्कि पुराण का मंगलवाक्य भी उसे किसी संस्कृत कवि की कृति प्रतिज्ञापित करता है—

“यद्बोर्दण्ड कराल सर्पं कबल ज्वालाज्वलद्विग्रहाः

नेतुः सत्कर वालदण्डदलिताभूपाः क्षिति क्षोभकाः ।

शशवत् संधववाहनो द्विजजनिः कल्किः परात्माहरिः

पायात्सत्ययुगादिकृत्स भगवान्धर्मप्रवृत्ति प्रियः ॥”

भयंकर अत्याचारों से पृथ्वी की शांति को भंग करने वाले राजागण जिसके भुजभुजङ्गविषज्वाल से भस्म होंगे, जिसकी भयंकर तीक्ष्ण खंगधार से अत्याचारी राजाओं को दण्डित किया जाएगा वह ब्राह्मणवंशोत्पन्न सिन्धुदेशीय अश्वरोही सत्यादि युगों के अबतरणकर्ता धर्म प्रवृत्तिप्रिय भगवान् कल्की परमात्मा हरि तुम्हारी रक्षा करे !

इस पुराण की प्राचीनता के संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है। महाभारत (वनपर्व, अध्याय-१९०), श्री मद्भागवत (बारहवें स्कन्ध का दूसरा अध्याय), भविष्यपुराण (युग परिवर्तन प्रसंग), ब्रह्मवैवर्त पुराण (प्रकृति खंड), अग्नि पुराण (कलियुग कारण), गरुड़ पुराण (अध्याय-१४९) आदि और विष्णु धर्मोत्तर पुराण के श्लोक—‘कलेरन्ते तु संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्म वादिनम् । अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत् स्थितम् ॥’—में कल्की-प्रसंग उपलब्ध होते हैं। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र के ‘दशावतार चरित’ में कल्की को ‘शिशुर्कंकिकुले द्विजे’—कहा गया है और सुप्रसिद्ध गीतिकाार जयदेव ने उसे—‘केशवधृत कल्की शरीर जय जगदीश हरे’—कहकर संस्तुत किया है।

फिर भी जैन ग्रन्थों में वर्णित कल्की इससे भिन्न हैं। त्रिलोकसार में कल्की का वर्णन करते हुए लिखा है—

* शोधकर्ता, अनेकान्त शोध पीठ, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०)

खण्ड १६, अंक २ (सित०, ६०)

३५

“सो उम्मगाहि मुहो चउम्मुहो सवरिवास परमाऊ ।
 चालीस रज्जओ जिवभूमी पुच्छइ समतिगणं ॥
 अग्हाणं के अदसा जिग्गंथा अत्थि केरि सायारा ।
 णिद्धणबत्था भिक्खाभोजी जहसत्थमि दिवयणे ॥
 तप्पाणिउडे णिवच्चिद पढसं पिडं तु सुक्कामिदिगेज्जं ।
 इवि णियमे सच्चिवकदे चत्ताहारा गया मुणियो ॥”

वह कल्की उन्मार्गाभिमुखी है और उसका नाम चतुर्मुख तथा वय ७० वर्ष है । उसका राज्य ४० वर्ष रहा । भूमि को विजय करते हुए उसने अपने मंत्रियों से पूछा कि अब कोन हमारे वश में नहीं रहा ? मंत्री बोले—निर्ग्रन्थ साधु ! उसने पूछा—वे कोन हैं ? मंत्री बोले—वे धन-वस्त्र हीन हैं और भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करते हैं । कल्की ने आदेश दिया कि उनके हाथों में आई पहली भिक्षा ‘कर’ के रूप में ले ली जाय । इस पर मुनिगण आहार छोड़कर चले गए ।

स्पष्ट है कि यह कल्की कोई ऐतिहासिक राजा है जो अपने राज्य से निर्ग्रन्थ-साधुओं को निकाल बाहर करने को सचेष्ट रहा और वह अपनी कठोरता के कारण ही जैन-ग्रंथों में उल्लिखित हुआ है जबकि कल्कि-पुराण आदि में उल्लिखित कल्की युग-युग में होने वाले अत्याचार, अन्याय और अधर्म के विनाश के लिए दैवीय सहायता के रूप में परिकल्पित है ।

भागवत में जहां २४ अवतारों का वर्णन है, वहां लिखा है कि २१ वीं बार कलियुग आ जाने पर मगध में देवताओं के द्वेषी, दैत्यों को मोहग्रस्त बनाने वाले जिन पुत्र बुद्ध का अवतार हुआ और उसके पश्चात् जब कलियुग समाप्त होने लगा और शासक वर्ग प्रजा को लूटने लगे तो विष्णुयश के घर कल्की पैदा हुए—

“ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुर द्विषाम् ।
 बुद्धो नाम्नाजिनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥
 अथासी युग संघ्यायां वस्यु प्रायेषु राजसु ।
 जनिता विष्णुयशो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥”

यही बात अग्निपुराण में लिखी है कि ‘कलियुग का अन्त होने के समय सब लोग वर्णसंकर हो जाएंगे । वे लुटेरे, शील रहित और वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले होंगे । उनकी रुचि धर्म की तरफ से हटकर अधर्म की तरफ चली जाएगी । म्लेच्छ राजागण मनुष्यों का बहुत बुरी तरह शोषण करेंगे । तब कल्की भगवान् श्री विष्णुयश के यहां प्रकट होंगे और याज्ञवल्क्य उनके पुरोहित होंगे । वे शस्त्र लेकर अपनी शक्ति से म्लेच्छों को नष्ट कर डालेंगे । इसके पश्चात् जब पृथ्वी पर फिर से सत्युग स्थापित हो जाएगा तब भगवान् कल्की पुनः अपने लोक को चले जाएंगे ।’

आचार्य नेमिचन्द्र का त्रिलोकसार

आचार्य नेमिचन्द्र का ग्रन्थ ‘त्रिलोकसार’ करणानुयोग—लोक-अलोक और युग परिवर्तन विषय का अद्भुत ग्रन्थ है । विक्रमी संवत्सर की ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में लिखा गया यह ग्रन्थ निःसंदेह ‘तिलोय पण्णति’, ‘जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति’ आदि पूर्व ग्रन्थों पर

अंशकारित है, किन्तु अपने विषय का अतीव ग्रीढ़ और स्वतंत्र ग्रन्थ है। मान और गणना का इसमें सूक्ष्म विवेचन हुआ है। संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीनों प्रकार की गणना में आचार्य नेमिचन्द्र ने असंख्यात और अनन्त को परीत, युक्त और असंख्य भेद से तीन-तीन प्रकार का मानकर संख्यात सहित संख्या के सात भेदों को जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रभेद से गणना के २१ प्रकार लिखे हैं। वे 'एक' को गणना कहते हैं, 'दो' को संख्या और 'तीन' आदि को कृति मानते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार 'एक' और 'दो' में कृतित्व नहीं है। 'एक' में तो संख्यात्व भी नहीं है। एक को एक से गुणा-भाग करें तो कुछ भी हानि-लाभ नहीं होता। इसी प्रकार जिस राशि को वर्ग बनाकर वर्गमूल घटाने से शेष का वर्ग राशि से अधिक न हो उस संख्या में भी कृतित्व नहीं होता। अतः संख्या का आरंभ दो के अंक से ही होता है और उससे बाहर युगपत् प्रत्यक्ष ज्ञान तक असंख्यात और अनन्त तथा जिस राशि का आय के बिना व्यय होते रहने पर भी अन्त नहीं होता वह अक्षय अनन्त राशि होती है।

अपने इस कथन की व्याख्या करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र ने जगत् श्रेणी और केवल ज्ञान (अनन्तानन्तस्वरूप) का परिमाण दिया है जो संख्यारूप में ६५,५३६ है। उनका कहना है कि लोक का आकार खड़ी डेढ़ मृदंग के समान है और उसका मध्य भरितावस्था में है। अर्द्ध मृदंग के समान अधोलोक है और मृदंग के समान ऊर्ध्वलोक है। दोनों मिलकर पूर्ण-लोक बनते हैं जिसकी ऊंचाई १४ रज्जु है। जगत् श्रेणी के सातवें भाग को रज्जु कहते हैं और उसके वर्ग को जगत् प्रतर। वे जगत् श्रेणी के घन-लोक को ३४३ घनरज्जु मानते हैं। इससे नेमिचन्द्राचार्य के अनुसार अधोलोक का क्षेत्रफल—भूमि ७ रज्जु, मुख १ रज्जु और उत्सेध ७ रज्जु होता है। अर्थात् $7 + 1 = 8 \div 2 = 4 \times 7 = 28$ वर्ग रज्जु अधोलोक है और ऊर्ध्वलोक का क्षेत्रफल—भूमि १ रज्जु, मध्य ५ रज्जु, मुख १ रज्जु और उत्सेध ७ रज्जु होने से $1 + 1 = 2 \div 2 = 1 \times 7 = 7$ वर्ग रज्जु है। इस प्रकार सम्पूर्ण घनफल $28 + 7 = 35$ वर्ग रज्जु जगत् प्रतर का ७ गुना ३४३ घनरज्जु बनता है। जगत् श्रेणी का यही घनलोक उसकी १६ पल्ली, १६ बर्द्ध छिद्र और उनके घनमूलों के पारस्परिक गुणन ($16 \times 16 \times 16 \times 16$) से ६५,५३६ होता है।

इसी प्रकार युगपत् श्रुतज्ञान को संख्यात, युगपत् अवधिज्ञान को असंख्यात और युगपत् केवल ज्ञान को अनन्त कहकर नेमिचन्द्राचार्य ने अक्षय अनन्त राशि भी ६, ५३६ ही बताई है। सर्वधारा, समधारा, कृतिधारा, घनधारा, कृतिमातृकाधारा, घन-मातृकाधारा तथा प्रतिपत्नी—विषम, अकृति, अघन, अकृतिमातृका, अघनमातृका, द्विरूप धर्म, द्विरूपघनवर्ग और द्विरूपघनाघनधारा—कुल १४ धाराओं में परिगणन करके अंकसंदृष्टि में सर्वत्र अनन्तानन्त स्वरूप केवल ज्ञान का मान भी ६५,५३६ ही माना है। क्योंकि द्विरूप वर्गधारा में पहला वर्ग १६, दूसरा २५६ और तीसरा ६५,५३६ (पण्णट्ठीपञ्चसया छतीसा) होता है और यही संख्या सर्वधारा और समधारा संख्याओं में क्रमशः १ और २ से गणना पर केवल ज्ञान स्वरूप में प्राप्त होती है। सर्वांश में

खण्ड १६, अंक २, (सित०, १०)

३७

आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार ६५,५३६ की संख्या केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की सर्वोत्कृष्ट संख्या और सिद्धांक है जो जगत् श्रेणी के धनलोक और धनमूल गुणन तथा १४ धाराओं के संख्या परिगणन से उपलब्ध है। त्रिलोकसार की यह अपनी उपलब्धि है।

कालांतर और कालमान का उल्लेख

त्रिलोकसार के नरतिर्यग्लोकाधिकार में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल, कुलकर, तीर्थकर, चक्रवर्तिन् आदि की आयु सीमा और शकराजा तथा कल्की राजा की उत्पत्ति कही गई है। वहां तीर्थकरों के आपसी अन्तराल और जिनधर्म उच्छेद का कालमान भी दिया है। सात अन्तरालों में ४ पत्य पर्यन्त जैनधर्म के अनुयाइयों का अभाव बताया गया है किन्तु 'पत्य' का कालमान अस्पष्ट है और यह अन्तराल व उच्छेद सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ के मुक्त होने से पहले का है।

आदि तीर्थकर ऋषभनाथ से शान्तिनाथ तक सभी तीर्थकरों की आयु लाखों के अंकों में दी है जो हमारी समझ में मुहूर्तों की संख्याएं हैं। कुन्थुनाथ से नेमिनाथ तक छह तीर्थकरों की आयु सहस्रकों में दी है जो वाल्मीकि रामायण के प्रयोग अनुसार दिनों की संख्या है। तत्पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की आयु वर्तमान वर्षों में है। इस प्रकार गणना करने पर यह आयु ६७१६ वर्ष ७ माह बनती है जो महावीर निर्वाण तक का कालमान होता है। (यदि कुन्थुनाथजी की आयु ६० हजार दिन के स्थान पर ६५ हजार दिन मानी जाय तो १३ वर्ष १० माह २० दिन बढ़ जायेंगे)

यतिवृषभाचार्य की 'तिलोय पण्णति' में महावीर-निर्वाण बाद का काल लिखते समय अस्पष्टता होने से 'वीर जिणे सिद्धिगदे'—कहकर वीर जिन सिद्धि से ४६१ वर्ष बाद शक राजा; 'अहवावीरे सिद्धे' लिखकर ६७८५ वर्ष ५ माह बाद शकराजा; 'वीरेसर सिद्धीदो'—से १४७६३ वर्ष बाद शक राजा की उत्पत्ति और 'णिग्वाणे वीर जिणे'—लिखकर ६०५ वर्ष ५ माह बाद शकराजा होने की बात लिखी है किन्तु विक्रम संबत्सर की ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार में स्पष्ट लिख दिया है—

“पण्णस्तयवस्सं पणमास जुवं गमियवीर णिव्वुइदो ।
सगराजोततो कक्की चट्टणवतियमहिंय सगमासं ॥”

कि वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह बाद शकराजा हुआ और उसके ३६४ वर्ष ७ माह बाद अर्थात् वीर निर्वाण से हजार वर्ष बाद कल्की हुआ। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यतिवृषभ के समय कालमान में जो अस्पष्टता थी उसे दसवीं सदी विक्रमी तक सर्वमान्य हल से सुलझा लिया गया किन्तु कालान्तर और काल-उच्छेद में अस्पष्टता बनी रही। फिर भी केवल ज्ञान और अविभाग प्रतिच्छेदों की सर्वोत्कृष्ट संख्या के रूप में ६५,५३६ की संख्या पर भी सहमति हो गई। इसीलिए त्रिलोकसार में उसे प्रमुखता से बारंबार लिखा गया।

यदि हम इस केवल ज्ञान संख्या को त्रिलोकसार के उपरोक्त उल्लेख ६०५ वर्ष ५ माह और ३६४ वर्ष ७ माह की तरह अविभाजित मान लें। अर्थात् माह संख्या समझें तो उसका कालमान ५४६१ वर्ष ४ माह बनता है जो महावीर निर्वाण तक का कालमान होने से एक हजार वर्ष के योग से ६४६१ वर्ष ४ माह होता है। अर्थात् केवल ज्ञान से कल्की जन्म तक का कालमान ६४६१ वर्ष ४ माह बन जाता है।

यूनानी लेखक प्लिनी (Nat VI—21/5) के अनुसार फादर बक्कस से सिकन्दर तक १५४ राजाओं का कालमान ६४५१ वर्ष ३ माह है जो आचार्य नेमिचन्द्र के केवल ज्ञान से कल्की जन्म तक के कालमान ६४६१ वर्ष ४ माह से केवल १० वर्ष १ माह कम है किन्तु एरियन (इन्डिका—१) के उल्लेख अनुसार भारतीय राजा डायोनीसस से सैण्ड्राकोटस तक १५३ राजाओं के कालमान ६०४२ वर्षों में दो बार की टूट ३०० + १२० वर्षों के योग के समतुल्य है।^१

सैण्ड्राकोटस महाभदरेन राजवंश का १५३ वां राजा था। महाभद्रेन राजवंश वर्तमान हरियाणा, राजस्थान और सिंध (पाकिस्तान) के क्षेत्र पर शासन करता रहा और उसकी राजधानी पारिभद्र को वर्तमान नोहर-भादरा के रूप में पहचाना गया है। गणनानुसार सैण्ड्राकोटस विक्रम पूर्व २५३ वर्ष (अथवा ३१० ईसा पूर्व) गद्दीनशीन हुआ और उसकी गद्दीनशीनी से एक हजार वर्ष पूर्व अर्थात् १२५३ विक्रम पूर्व महावीर-निर्वाण हुआ। तदनुसार १२५३ + ५४६१ वर्ष ४ माह = ६७१४ वर्ष ४ माह पूर्व विक्रम केवल ज्ञान का कालमान बनता है जो राजा डायोनीसस का भी काल हो सकता है। तीर्थकर आयुमान (महावीर निर्वाण तक) भी इससे समतुल्य दीख पड़ता है किन्तु उसमें के अनेकों कालान्तर लुप्त हो चुके हैं।

संदर्भ :

१. वाल्मीकि रामायण (उत्तरकांड, सर्ग-७३) में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

“अप्राप्त यौवनं बाले पंचवर्ष सहस्रकम् ।

अल्पे कालमापन्नं मम दुःखाय पुत्रकम् ॥”

न स

कि मेरा बालक पांच वर्ष सहस्रक आयु में ही काल कवलित हो गया और बिना युवा अवस्था पाये ही मृत्यु को प्राप्त होकर मुझे दुःखी बना गया। यहां ‘पंचवर्ष सहस्रकम्’ की टीका करते हुए पं० रामाभिराम लिखते हैं—‘पंचवर्ष सहस्रकं’ वर्ष शब्दोत्र दिन-परः किञ्चिन्मूनश्चतुर्विंश वर्ष मित्यर्थः; कि यह वर्ष = दिन संख्या है।

२. एरियन की इन्डिका का अंग्रेजी अनुवाद ‘दी इण्डियन एण्टिक्वेरी’ (वर्धमान ग्रंथालय क्रमांक ८१ ६४) में पृष्ठ ८५ से १०८ तक छपा है जिसमें पृष्ठ ६० पर उक्त विवरण उपलब्ध है।



सुमतित्र का शकराजा और उसका कालमान (प्रतिक्रियाएं)

- चन्द्रकान्त बाली*
- उपेन्द्रनाथ राय*

[उक्त शीर्षक से गत अंक में छपे लेख पर दो प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुई हैं जो अविकल रूप में यहां प्रकाशित की जा रही हैं। जैसाकि सम्बद्ध लेखक ने अपने लेख में आह्वान किया है—‘अधिकारी विद्वान् इस शोध कार्य में सम-भागी बनें और भारतीय कालगणना का यह अस्पष्ट अध्याय स्पष्ट हो सकेगा’—और भी विद्वान् अपने अभिमत देंगे और उनके द्वारा यह परिचर्चा तथ्यान्वेषण में सहायक होगी। —संपादक]

प्रतिक्रिया-१

सुमतित्र का शकराजा और उसका कालमान —चन्द्रकान्त बाली

‘तुलसी प्रज्ञा’, खण्ड-१६, अंक-१ (जून १९६०), पृष्ठ-१५ पर ‘सुमतित्र का शकराजा और उसका कालमान’ नामक लेख छपा गया है। प्रकृत लेखक भी इसी शीर्षक पर चिरकाल से विचार कर रहा है और लिख रहा है।
टिप्पणी : मेरे समक्ष बृटिश म्यूजियम में सुरक्षित (सैसल बैण्डल सूचीपत्र सन् १९०२ का क्रमांक ३५६४) ‘सुमतित्र’ की फोटो स्टेट प्रति रखी है। उ छोटे-मोटे पाठान्तरों के अतिरिक्त एक गंभीर पाठान्तर है। यथा—

१. “शकराजाः ततो पश्चात् वसु-रन्ध्र-कृतं तथा।”
२. “शकराजा ततो पश्चात् वसु-चन्द्र-कृतं तथा।”

४०६ मौर्य संवत् अथवा ४१८ मौर्य संवत् में से कौन-सा वर्ष ग्राह्य है ? इस पर पहले प्रकृत लेखक ने कभी विचार नहीं किया।

पूर्व प्रकाशित निबंध पर पुनर्विचार का मुख्य कारण उक्त ‘पाठान्तर’ है। अस्तु ! इस सुमतित्रिय श्लोक की सही-सही व्याख्या तभी संभाव्य है, जब उसपर आश्रित ‘सारिणी’ को समक्ष रख लें—

*एन. डी. २३, विशाखाइन्क्लेव, पीतमपुरा, बेहली-३४ (पिन-११००३४)

*ग्राम-डाकघर-मेटेली, जिला-जलपाईगुड़ी (पश्चिम बंग), पिन-७३५२२३

अथ सारिणी

दुर्योधन संवत्	युधिष्ठिर संवत्	नंदवंश संवत्	शूद्रक संवत्	मौर्य संवत्	शक संवत्	ईसवी पूर्व
००*	—	—	—	—	—	३१६२
१४	००	—	—	—	—	३१४८-९
२०१४	२०००	००	—	—	—	११४८
—	छह	वर्षों○	का	संशोधन	→	११४२
२७००	२६८६	६=६	००§	—	—	४५६
२८१४	२८००	८००↓	११४	००	—	३४२
[२६४६	२६३२	६३२	२४६←	→६३२∅	—	२१०]
३२२२√	३२०८	१२०८	५२२	४०८∴	००	६६ ईसवी

(*) भारतीय कालगणनाएं शून्य से आरंभ होती हैं। (क) सप्तर्षि-संवत् १००१—३१६२ ई० पूर्व में दुर्योधन का अभिषेक हुआ, तभी से 'दुर्योधन संवत्' की स्थापना मान्य है। वह शान्तनु-अभिषेक का द्वि-शताब्दी-वर्ष भी था।

(∅) पाण्डव १३ वर्ष वन में रहे। १ वर्ष युद्ध-प्रस्तुति में बीत गया। अतः सप्तर्षि-संवत् १०१४ ३१४८ ई० पूर्व में भारत संग्राम घटित हुआ। तभी युधिष्ठिर-संवत् स्थापित हुआ।

(○) दो हजार वर्ष पर्यन्त युधिष्ठिर-संवत् प्रचलित रहा। तभी नंदवंश का अभ्युदय हुआ। (क) प्राचीनकाल में सप्तर्षि-गणना प्रचलित थी; बाद में सौर गणना लोकमान्य हुई। यद्यपि पौराणिक इतिहास में सप्तर्षि-गणना में तथा सौर-गणना में व्यवधानकाल कुछ अधिक है; परन्तु प्रस्तुत सारिणी में वह व्यवधानकाल केवल छह वर्ष है। अतः वैज्ञानिक अनिवार्यता के दृष्टीभूत उक्त संगोधन प्रस्तुत है। संशोधन-प्राक् सप्तर्षि संवत्, तत्पश्चात् सौर-गणना उपस्थित है।

(§) 'शूद्रक संवत्' की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर उपलब्ध है। यथा—

“बाणाच्छिगुण दलोनाः शूडकाब्दाः कलेर्गताः।” —यल्लायं

अर्थात् कलि संवत् के ५-४-६-२ (अङ्कानां वामतोगतिः २६४५) वर्ष बीतने पर 'शूद्रक-संवत्' स्थापित हुआ। गणना करने पर—

ईसवी पूर्व का साल ३१०१

(—) २६४५ कलि संवत् =

(०० शूद्रक संवत्) ४५६ ईसवी पूर्व।

यही फलागम हम सारिणी में देख रहे हैं। यद्यपि सुमतित्र में 'शूद्रक-संवत्' की स्थापना का कोई संकेत नहीं है; तथापि प्रमाणान्तर से सारिणी को साधु रखना हमारा कर्तव्य था, जो हमने पूरा किया।

(↓) मौर्य संवत् पर पर्याप्त लिख चुके हैं। हमारे परिपक्व निर्णय के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का अभिषेक ३४२ ईसवी पूर्व में हुआ था, तभी से 'मौर्यसंवत्' गणना-धीन है और यही संकेत सुमतित्र में भी है : 'नन्दराज्यं शताष्ट वा चन्द्रगुप्तस्ततोपरम्।'

नंदसंवत् ८०० = मौर्यसंवत् ०० = ३४२ ई० पूर्व का साल। यद्यपि पौराणिक काल-गणना तथा सुमतितंत्रीय कालगणना में तालमेल का अभाव है; यथा—

“प्रमाणं वै तथाचोक्तं महा-पद्मान्तरं च यत्।

अन्तरं तच्छतान्यष्टौ षट्त्रिंशत् सभाः स्मृताः ॥” —मत्स्य, १७१।१६

कहाँ ८०० (आठ सौ) और कहीं ८३६ वर्ष ? है कोई तालमेल ? हमने संवत्सर ज्ञान के सहारे ८००-३६ = ७६४ सौर वर्ष ही ग्रहण किए हैं। (जो पौराणिक कालगणना के अनुसार सौ-सैकड़ा यथार्थ हैं) परन्तु सुमतितंत्र के साथ उसका कोई समतल समन्वय नहीं है। तथापि महद् आश्चर्य है—फलागम तक पहुंचते-पहुंचते दोनों गणनाएं “मौर्य संवत् ०० = ३४२ ई० पूर्व” तक एकमेव फलमुक् हो जाती है।

(०) सुमतितंत्र की आठवीं पंक्ति : राजा शूद्रकदेवश्च वर्षसप्ताब्धिचाश्विनौ रचनाकार की वैज्ञानिक सूक्ष्मबुद्ध की पराकाष्ठा को प्रमाणित करती है। यहाँ पहुंच कर रचनाकार अपनी शलाका परीक्षा लेने पर तुल गया है। उसके निर्णय के अनुसार जब शूद्रक संवत् २४७ था, तभी अर्थात् उसी वर्ष मौर्य संवत् १३२ था। क्या कमाल का गणितीय निर्णय है :

$$\left. \begin{array}{l} \text{ईसवी पूर्व ४५६} \\ \text{[—] २४६ शूद्रक संवत्} \\ \hline \text{२१० ई० पूर्व} \end{array} \right\} \left\{ \begin{array}{l} \text{ईसवी पूर्व ३४२} \\ \text{[—] १३२ मौर्य संवत्} \\ \hline \text{२१० ई० पूर्व} \end{array} \right.$$

जरा ध्यान रहे—हमने सारिणी की ६ वीं पंक्ति को [] कोष्ठक में लिखा है।

(∴) मौर्य संवत् ४०८ वर्ष बीतने पर इतिहास में शक राजा हुआ। गणना बड़ी साफ-सुथरी है : ४०८-३४२ = ६६ ईसवी सन्। अर्थात् सुमतितंत्र का प्रस्तावित शकराजा ईसवी सन् ६६ में हुआ। हम इस पर पर्याप्त अनुसंधान कर चुके हैं।

पाठान्तर-सिद्ध सारिणी

२७१५	२६५८	६८५	००	—	—	४५७
२८२८	२८०२	८०२	११७	००	—	३४०
२९६०	२९३४	९३४	२४७-४८	१३२	—	२०८-०६
६२४४	३२१८	१२२२	५३५	४१८	००	७८ ईसवी

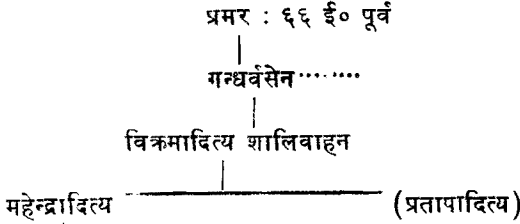
विचारक वृन्द ! जरा ध्यान से अवलोकन करें—(क) ४०८ के विकल्प में ४१८ (वसुचन्द्रकृतं तथा) का प्रस्ताव ईसवी सन् ७८ के शकराजा को सारिणी बद्ध करना है। (ख) इसका सीधा दुष्प्रभाव मौर्य संवत् के स्थापना वर्ष पर पड़ता है। ३४२ ई० पूर्व का स्थान ३४० ई० पूर्व ने ले लिया है। परिणाम स्वरूप समूची पौराणिक काल-शृंखला डगमगा जाएगी। (ग) शूद्रक संवत् की स्थापना बिन्दु स्यात्, सुरक्षित रह गई है : ई० पूर्व ३१०२-२६४५ = ४५७ ई० पूर्व का साल समाहित हो जाता है। (घ) शलाका-परीक्षा वाली पंक्ति भी १-२ वर्षों की घटत-बढ़त से प्रभावित हुई है। शेष समूची सारिणी पूर्ववत् है।

वसुचन्द्रकृतं तथा = ४६८ का अर्थाधान हर कीमत पर और प्रत्येक स्तर पर

अनैतिहासिक होने से अमान्य है ।

शकराज बनाम शकराज

सुमतित्र की पाठान्तर-कल्पना रास आई है । मौर्य संवत् ४०८ में एक शकराजा हुआ, मौर्य संवत् ४१८ में तदभिन्न शकराजा हुआ । दो-दो मूर्तियों की पहिचान इतिहास में उपलब्ध है । यथा—



→ १. भर्तृहरि — २. साहसांक विक्रमादित्य — ३. शूद्रक

(१) प्रमर का उल्लेख भविष्य पुराण में है, और उसका समय है—सप्तर्षि संवत् ३७१०—६६ ईसवी पूर्व । जैन ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।

(२) शालिवाहन-विक्रमादित्य प्रसिद्ध इतिहास-पुरुष है । इसीने मालववंश को उज्जैन से उत्पादित किया था :—

“एतस्मिन्नन्तरे तत्र शालिवाहन भूपतिः ।

विक्रमादित्य-पौत्रस्य पितृराज्यं गृहीतवान् ॥” — भविष्य पुराण

(३) इसके दो पुत्र हुए—महेन्द्रादित्य और प्रतापादित्य । सौभाग्यवश प्रतापादित्य काश्मीर-नरेश स्थापित हुआ—

“प्रतापादित्य इत्याख्यः तैरानीय दिगन्तरात् ।

विक्रमादित्य भूभर्तुः ज्ञातिरत्राभिविच्यत ॥” — राज, २।४

(४) राजा महेन्द्रादित्य के पश्चात् ज्येष्ठ अपत्य होने से ‘भर्तृहरि’ राजा बना । शतकत्रय का प्रणेता यही भर्तृहरि है । दुःशीला पत्नी से उद्विग्न भर्तृहरि ने सिंहासन छोड़ दिया और उसके उभय सहोदरों ने भ्रातृराज्य को बांट लिया । ये दोनों ‘शकराज’ कहलाए । यथा —

१. साहसांक शकराजा

शासनकाल ६५-८० ईसवी

२. विक्रमांक (शूद्रक) शकराजा

शासनकाल ६५-९० ईसवी ।

इन सहोदर राजाओं का सह-उल्लेख विशेष ध्यानाकर्षक है—

१. वामुदेव-सातवाहन (हाल) — शूद्रक-साहसाङ्क (राजशेखर)

२. संत्यज्य विक्रमादित्यं सत्त्वोद्भवं च शूद्रकम् ॥ (राजतरंगिणी)

इन सहोदर राजाओं की पृथक्ता और पहिचान की पुष्कल सामग्री उपलब्ध है ; परन्तु हम विस्तार में न जाते हुए संक्षेप में बताना चाहेंगे कि नाटककार कालिदास दोनों का सभारत्न था—

१. रसभावविशेष दीक्षा गुरोः साहसाङ्कस्य श्री विक्रमादित्यस्य (शाकुन्तलम्)

२. व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्री विक्रमांको नृपः । (सूक्ति समुच्चय)

दोनों शंकराजाओं ने अपने-अपने तौर-तरीकों से 'शककाल' स्थापित किए। साहसांक द्वारा स्थापित काल ६६ ईसवी से गणनाधीन हुआ, विक्रमांक द्वारा स्थापित शककाल ७८ ईसवी से प्रचलित हुआ। जरा स्मरण कर लें भारत सरकार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय शक महाराजा शुद्रक का अमर स्मारक है।

दो शककालों की विभाजक पहचान

नाम-साम्य के कारण कहीं इनमें गड़बड़ न हो जाए—परवर्ती कालविद् महाशय ने इनकी भौगोलिक तथा प्रयोगान्वित पहचान स्थापित की है। यथा—

१. भौगोलिक विभाजन : रेवा नदी को विभाजक रेखा मानते हुए आचार्यों ने रेवा-उत्तर में ६६ ईसवी के शककाल के प्रचलन की स्वीकृति दी है और ७८ ईसवी के शककाल को रेवा-दक्षिण में ही रहने दिया है।

ज्योतिषसार के अनुसार—

“स पंचानिकुम्भिः युक्तः कालः स्याद् विक्रमस्य हि ।

रेवाया उत्तरे तीरे संबन्नाम्नाति विश्रुतः ।”—ज्योतिषसार

यहां विक्रमादित्य के उल्लेख मात्र से ६६ ईसवी का शककाल ग्राह्य है।

२. प्रायोगिक विभाजन : प्रयोग की दृष्टि से दोनों शककाल अलग-थलग हो गए हैं। (क) ६६ ईसवी का शककाल इतिहास का माध्यम बन गया है, जबकि (ख) ७८ ईसवी का शककाल ज्योतिष गणना का साधन सिद्ध हो रहा है।

इतिहास

१. गुप्तसंवत् : अबूरिहां अलबेरुनी का कहना है : शककाल के २४१ वें वर्ष में गुप्त-संवत् स्थापित हुआ, सो $२४१ + ६६ = ३०७$ ईसवी से गुप्त-संवत् की गणना साधु है। यथा—

१. चन्द्रगुप्त प्रथम ३०७ से—
 २. समुद्रगुप्त ३१४ ई० से—
 ३. चन्द्रगुप्त द्वितीय ३६४ से—
 ई०पू० ५८ + २६४ ई० = ४२२ वर्ष यथार्थ है।
 ईसवी सन् $७८ + २४१ = ३१९$ से गुप्त संवत् की स्थापना अशुद्ध है।

२. लक्ष्मणसेन संवत् की गणना भी—ईसवी ६६ + १०४१ शककाल ११०७ ई० गणनीय साधु है। $७८ +$ शककाल १०४१ = १११९ ईसवी की स्थापना अनैतिहासिक होने से अमान्य है।

३. मौर्य संवत् ४०८—३४२—६६ ईसवी की गणना परस्परगत है, जब कि ४१८—७८ = ३४० ई० पूर्व की स्थापना अपौराणिक होने से अमान्य है। निष्कर्षतः “वसु-चन्द्रकृतं तथा” का पाठान्तर प्रत्यारोपित होने से अमौलिक है और अमौलिक होने से अमान्य है।

४. वीर निर्वाण संवत् भी इसी संदर्भ में विचारणीय है। यति वृषभ के समय तक सप्तर्षि-संवत् प्रचलित रहा है।

“चौदससहस्र सगसय तेणउदिवासकालविच्छेदे ।

वीरेसर सिद्धिबो उप्पणो सगणियो अहवा ॥”—गाथा क्रमांक १४६८

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के अनुसार सप्तर्षि-संवत् १४७६३ में से वीर-निर्वाण संवत् तथा शककाल का अन्तराल अन्वेषणीय है। इस बृहती गणना में पांच सप्तर्षिचक्र फालतु जमा हैं। यथा— $२७०० \times ५ = १३५००$ मूल संख्या से घटाने पर : $१४७६३ - १३५०० =$ शेष १२६३। प्राचीन गणनानुसार १२२७ ई० पूर्व में वीरनिर्वाण संभव हुआ। अतः $१२६३ - १२२७ = ६६$ ईसवी सन् में शकराजा हुआ।^१

इसी तर्ज पर सप्तर्षि संवत् ६७८५ का समाधान भी विचारणीय है। परन्तु उसकी गणनाशैली इस गणनाशैली से जरा भिन्न है।

टिप्पणी : यद्यपि हमने सप्तर्षि संवत् के माध्यम से जैन कालगणना का अभ्यास किया है, जिसके परिणाम सुनिश्चित और साधु मिले हैं; तथापि हम अपने अनुसंधान से संतुष्ट नहीं हैं। हमें इस विषय पर और अधिक अभ्यास की आवश्यकता है।

हम सम्बद्ध लेखक की अवधारणा को समझने में असमर्थ रहे हैं—यह हमारी बौद्धिक अक्षमता ही है। तुलसी प्रज्ञा के खंड १६/अंक १ के पृष्ठ ३५ की पंक्ति २५-२७ बड़ी उलझनपूर्ण हैं। उसको सारिणी में पलट कर देखते हैं :—

कलि	नन्द	शक	विक्रम	ई० पूर्व
००	—	—	—	३१०१
१५००	००	—	—	१६०१
२५०५	१००५	००	—	५६६
३०४३	१५४३	५३६-३८	००	५७-५६

सम्बद्ध लेखक के प्रस्तावित ५३८ विक्रम पूर्व (अर्थात् ५६५ ई० पूर्व) के किसी शकराजा की संस्तुति अथवा विश्रुति भारतीय इतिहास में नहीं है। ५३८ विक्रम पूर्व के शकराजा का प्रामाणिक परिचय उपलब्ध कराना सम्बद्ध लेखक का नैतिक कर्तव्य है। हमें इसकी प्रतीक्षा रहेगी।

सन्दर्भ :

- वेदवाणी, सोनीपत (बहालगढ़) हरियाणा। वर्ष ३३, अंक ८, पृ० १५। लेख—
‘सुमति तंत्र का कालचक्र’। जून, १९८१
- (क) सरस्वती, इलाहाबाद। वर्ष ७४, पूर्ण संख्या ८८१; मई, १९७३
(ख) वेदवाणी, बहालगढ़। वर्ष ३४, अंक ८; पृ० २०। जून, १९८२
- (क) हिन्दुस्तानी त्रैमासिक पत्रिका, इलाहाबाद। भाग ३७, अंक १, पृ० ६०।
(ख) सम्मेलन पत्रिका, इलाहाबाद। भाग ६३, अंक-२। चैत्र—भाद्रपद १८६६
शक, पृ० ११३। लेख ‘उज्जयिनी और शक वंश’।
- त्रिलोक प्रज्ञप्ति में लिखा है—“वीरजिणे सिद्धिगदे चउ-सव इकसट्ठ वासपरिमाणे।
कालम्मि अदिक्कन्ते उप्पन्नो एत्थ सगराया।” अर्थात् वीर निर्वाण से ४६१ वर्ष में
शकराज प्रतिष्ठित हुआ। यथा—ई० पूर्व ५२७-४६१ = ६६ ईसवी पूर्व में हुआ।
- प्राचीनतम जैनग्रंथों में से प्रतीत होता है—वीर निर्वाण संवत् १२२७ ई० पूर्व में
हुआ। अधुनातन जैन शास्त्र प्रतिपादित करते हैं—वीर निर्वाण ५२७ ई० पूर्व में

हुआ। देखिए—

(क) वर्धमान संवत् : परिषद् पत्रिका : २०१४, जनवरी, १९८१, पृ० ४६

(ख) भारतीय इतिहास में ७०० वर्षों का उलटफेर : हिन्दुस्तानी शोध पत्रिका, भाग-४, अंक १ और पृ० १।

प्रतिक्रिया-२

शकराजा और शककाल

—उपेन्द्रनाथ राय

‘सुमतित्रय का शकराजा और उसका कालमान’ नामक लेख में लेखक ने कुछ ऐसे तथ्य दिये हैं और ऐसी समस्याएं रखी हैं जिनका समुचित समाधान कर सकने की क्षमता मुझमें नहीं है। मेरी जानकारी सीमित है। फिर भी कुछ निवेदन करने का लोभ सवरण नहीं कर सका क्योंकि आशा है कि समाधान का पथ निकालने में इससे अधिकारी विद्वानों को कुछ सुविधा होगी।

बृहत्संहिता का संदर्भ

उक्त लेख में लेखक लिखते हैं :—“राजा युधिष्ठिर और शक राजा में २५२६ वर्षों का अन्तर वृद्धगर्ग के हवाले से बराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (१३।३) में भी दिया है—

“आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।

षड्विकपञ्चद्वियुतः शककालः तस्य राजश्चः ॥”

लेखक का यह कथन आधुनिक विद्वानों की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। परन्तु सत्य का निर्णय हाथ गिनकर नहीं किया जा सकता। किसी श्लोक का अर्थ-निर्णय करने के लिए श्लोक का पदच्छेद और अन्वय करना चाहिए। इसके बाद देखना चाहिए कि बिना किसी पद को छोड़े अथवा किसी अदृष्ट पद का अध्याहार किये बिना अर्थ निकलता है? यदि निकलता है तो जो अर्थ मिले वही प्रकृत अर्थ है। कहीं-कहीं किसी एक अदृष्ट पद का अध्याहार आवश्यक एवं मान्य होता है किन्तु पूरे वाक्य या वाक्यांश का अध्याहार या किसी भी पद का वर्जन कदापि नहीं होता। इस पद्धति का वर्तमान युग में आग्रहवश अनादर ही देखा जा रहा है। अतः बहुसंख्यकों के मत से मुझे असहमत होना पड़ा है।

इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार है—युधिष्ठिरे नृपतौ पृथिवीं शासति मुनयः मघासु आसन्, तस्य राजः च शककालः षड्विकपञ्चद्वियुतः। इससे सीधा अर्थ यह प्राप्त होता है कि राजा युधिष्ठिर के शासनकाल में सप्तर्षि मघा में थे और उस राजा का शककाल २५२६ है। ‘उस राजा का शककाल’ का सरल अर्थ युधिष्ठिर का शककाल है जो राजा युधिष्ठिर के राज्यारोहण से शुरू हुआ। वृद्धगर्ग में इस श्लोक का प्रयोजन ग्रन्थ के रचनाकाल का निर्देश करना था। इस समय अप्राप्य उक्त ग्रन्थ ३१३८-२५२६ = ६१२ ई० पू० के निकट रचा गया होगा। कालान्तर में इस श्लोक का उपयोग युधिष्ठिर का काल बताने के लिए होने लगा और श्लोक में ‘प्राक्’ या ‘पूर्व’ जैसा कोई

पद न होने पर भी यह कल्पना कर ली गयी कि युधिष्ठिर शकाब्द के २५२६ वष पूर्व वर्तमान था । अब इस निराधार कल्पना को छोड़ देने में ही शोधकार्य का कल्याण है ।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का संदर्भ

ऐसा ही प्रसंग विष्णुधर्मोत्तरपुराण का है । उसमें कलियुग के १० वर्ष बीतने पर श्री कृष्ण के पौत्र वज्र ने मार्कण्डेय से पूछा कि अभी कितने दिन मैं राज्य करूंगा और परीक्षित कितने दिन राज्य करेगा । इसीके उत्तर में मार्कण्डेय ने वे पंक्तियां कही हैं जिनका उद्धरण उक्त लेख में है । स्वयं सम्बद्ध लेखक भी उन पंक्तियों का अर्थ यही करते हैं कि ५० वर्ष बाद जब परिक्षित दिवंगत होंगे तो तुम भी स्वर्ग को प्राप्त होंगे । विशेषता यह है कि वे “आज” और “इस वर्ष” पर जोर देते हैं और उसे १४७४६ वें वर्ष का सूचक समझते हैं ।

‘वाताश्वमेधवर्षेस्मिन् सहयक्षेण’ का अर्थ १४७४६ कदाचित् हो सकता है । वात=४६, अश्व = ७, मेघ = ४, यक्ष = १ । ‘अङ्कानां वामतो गतिः’ से १४७६४ प्राप्त होता है, वात के ४६ को न उलटें तो १४७४६ प्राप्त होगा । प्रश्न प्रासंगिकता का है । पुराण कलि के इतने वर्ष पूर्व और इतने वर्ष पश्चात् के अतिरिक्त कहीं भी किसी सन्-संबत् का प्रयोग नहीं करते और यहां अन्यथा कुछ हुआ है ऐसा मानने के लिए पर्याप्त कारण होने चाहिए । हठात् एक स्थल में किसी अज्ञात, अख्यात संबत् का प्रयोग करके पुराणकार हमें उलझन में डालने क्यों जायेंगे और उसका यहां प्रयोजन ही क्या है ?

“आज” का सीधा अर्थ कलियुग का १० वां वर्ष है जब वज्र ने प्रश्न किया । प्रसंगानुसार ‘इस वर्ष’ का अर्थ कलियुग का ६१ वां वर्ष है जब वज्र और परिक्षित दोनों का देहान्त होगा । इस दृष्टि से ‘वाताश्वमेधवर्षेस्मिन् सह यक्षेण’ से प्राप्त संख्याओं ४६, ७, ४, १ को जोड़ दें तो प्रकृत अर्थ ६१ वां वर्ष निकल आता है । यही प्रकृत अर्थ है क्योंकि वज्र के प्रश्न से इसी उत्तर का सामंजस्य है । न पुराणों में ही कहीं ऐसा मिलता है कि वज्र और परीक्षित किसी शकराजा के समय (जन्म काल या शासन-काल) में दिवंगत हुए न जैन-साहित्य में ही । अतः विष्णुधर्मोत्तरपुराण में १४७४६ या १४७६४ वर्ष का उल्लेख है, ऐसा मानना मेरी विनम्र सम्मति में ठीक नहीं ।

ऐतज्जमा संवत्सर और शक संवत्

राजा देवल के ऐतज्जमा संवत्सर के प्रसंग में उक्त लेख की सूचना इस प्रकार है—
“राजा ककुत्स्थ से राजा सगर तक ३४४६ वर्ष बीते और राजा सगर से राजा युधिष्ठिर तक २६६५ वर्ष जब कि राजा युधिष्ठिर और राजा देवल में २५२६ वर्षों का अन्तर है ।” इसका अर्थ यह हुआ कि ६१२ ई० पू० के लगभग जब वृद्धगर्ग ग्रन्थ की रचना हुई, उसी समय देवल का ऐतज्जमा संवत्सर भी चला । इससे ५१६१ वर्ष पूर्व अर्थात् ५६०३ ई० पू० सगर का और उसके ३४४६ वर्ष पूर्व ६२५२ ई० पू० ककुत्स्थ का समय है । ये तिथियां विचारणीय हैं ।

चम्पा वा एक लेख जब यह कहता है कि सगर ने ७२० शक संवत् से ५६११ वर्ष पूर्व श्रीमुखलिङ्गदेव की स्थापना की थी तब उसका अर्थ होता है उक्त कार्य ‘शक संवत्’ से ५१६१ वर्ष पूर्व हुआ । इससे उल्लिखित ‘शक संवत्’ का आरम्भ काल ५६०३

— ५१६१ — ६१२ ई० पू० आता है और वह ऐतज्मा संवत्सर से अभिन्न हो जाता है ।

५४३ ई० पू० का शक-संवत्

सम्बद्ध लेखक ने स्याम में प्रचलित “पुत्तसकरात् संवत्सर” और खोतान के किसी बौद्ध राजा के पुत्र द्वारा प्रवर्तित “देवपुत्रशक संवत्सर” का भी उल्लेख किया है जिसका प्रारम्भ ५४३ ई० पू० से बताया गया है । सिंहली परम्परा ५४३-५४४ ई० पू० को बुद्ध का निर्वाणकाल मानती है । सिंहली परम्परा यदि ठीक होती तो स्याम और खोतान के बौद्ध ५४३ ई० पू० से शुरू हुई काल-गणना का सम्बन्ध किसी राजा से जोड़ने की भूल कदापि न करते । अतः सिंहली परम्परा वैसी विश्वसनीय नहीं है जैसा लोग समझते हैं । बुद्ध का निर्वाण-काल (महावीर का भी ५४३ ई० पू० से निःसंदेह बहुत पहले है ।

द्विविध शक संवत्

पर्याप्त जानकारी के अभाव में मैं सुमतितन्त्र और तिलोयपण्णत्ति के सन्दर्भों के बारे में अभी कुछ भी नहीं कहूंगा । किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि ‘शक’ नाम से दो संवत् बृहत्तर भारत में प्रचलित थे जो ५४३ ई० पू० और ६१२ ई० पू० से शुरू हुए थे । भारत में युधिष्ठिर शक, शालिवाहन शक और विक्रम शक या शाक तो प्रचलित हैं ही, कुछ ऐसे शक भी उल्लिखित मिलते हैं जिनका आरम्भ कब हुआ कहना कठिन है । भट्ट उत्पल ने वराहमिहिर के बृहज्जातक (७।६) की टीका में यवनराज स्फुजिध्वज का एक श्लोक दिया है जिसमें १०४४ शक का निर्देश है । इसका आरम्भ कब हुआ यह अभी अज्ञात ही है । किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि ‘शक’, ‘शाक’ और ‘शककाल’ संवत् के पर्यायवाचक रूप से साहित्य और अभिलेखों में प्रयुक्त होते आये हैं । अनावश्यक मानकर यहां प्रमाण नहीं दिये । यहां विचारणीय केवल यह है कि कालगणना के लिए प्रयुक्त शक, शाक या शककाल जैसे शब्दों का अर्थ क्या है ?

शकराजा, शकेन्द्र, शकभूभुज् आदि का अर्थ

शक, शाक और शककाल के बदले शकेन्द्रकाल, शक नृपतिकाल, शकभूभुज्काल जैसे पदों का प्रयोग भी साहित्य और अभिलेखों में प्राप्त है जिससे इस धारणा की सृष्टि हुई है कि शकशब्द अथवा शककाल का सम्बन्ध शक नाम की विदेशी जाति के राजाओं से है और वह जाति १५० ई० पू० में भारत आयी थी ऐसा बहुजन स्वीकृत विश्वास है । इस विश्वास से ‘शक’ शब्द मूलतः विदेशी और १५० ई० पू० के पहले भारत में अप्रचलित ठहरता है ।

हमें इस प्रचलित धारणा में निम्नलिखित दोष दिखायी देते हैं :—

(१) शकजाति से सम्बन्धयुक्त ‘शक’ शब्द का प्रचलन १५० ई० पू० भारत में हो ही नहीं सकता । अतः इससे पूर्ववर्ती गणनाओं के साथ ‘शक’ शब्द नहीं जुड़ना चाहिए किन्तु ५४३ ई० पू०, ६१२ ई० पू० और यहां तक कि युधिष्ठिर की काल-गणना के लिए भी उसका प्रयोग मिलता है ।

(२) जिन राजाओं का शकजाति से कोई सम्बन्ध नहीं उनके लिए भी 'शक', 'शाक', 'शकाब्द' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। यथा, अकलङ्कचरित में विक्रमाब्द के लिए 'शकाब्द' का प्रयोग किया गया है—विक्रमार्क शकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि। ५७ ई० पू० में संवत् चलानेवाले विक्रमादित्य का जन्म शकजाति में नहीं हुआ, वह तो शकों का शत्रु, उनका उच्छेदकर्ता था। इसी प्रकार ऐहोल अभिलेख में ७८ ई० से प्रवर्तित कालगणना का उल्लेख यों है :—

“त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतावाहवादितः ।
सप्तान्दशशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु ॥
पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च ।
समासु समतीतसु शकानामपि भूभुजाम् ॥”

“भारत-युद्ध के इस ओर कलिकाल में ३७३५ वर्ष बीतने पर ५५६ शक में” यही इसका अभिप्राय है। दोनों संख्याओं को ६३४ ई० के तुल्य मानने से ही इतिहास के निर्विवाद तथ्यों में संगति बैठती है। किन्तु ऐहोल अभिलेख जिस कालगणना को “शकराजा का वर्ष” (शकानां भूभुजाम् समासु) कहता है उसी को, ब्रह्मगुप्त “शकान्तेब्दाः”, श्रीपति “शकान्ते” और भास्कराचार्य “शकनृपस्यान्ते” कहते हैं। प्राचीनतम साक्ष्यों से निष्कर्ष यही निकलता है कि इस कालगणना का प्रचलन किसी शकराजा के वध के समय से हुआ और उसका वध करनेवाला गुप्त वंश का चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था (द्रष्टव्य, सत्यश्रवा कृत 'Sakas of India', 1981, p. 45-51)। यहाँ भी वही स्थिति है। चन्द्रगुप्त द्वितीय शक जाति का राजा नहीं था, वह तो शकराजा का वध करनेवाला था। वह 'शकानाम् भूभुज्' कैसे हो सकता है ?

ऐसी स्थिति में विक्रमादित्य और चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए प्रयुक्त शकेन्द्र, शकनृपति, शकभूभुज् आदि का अर्थ शकजाति में उत्पन्न राजा नहीं वरंच शकजाति को वशवर्ती बनानेवाला, शकों पर अपना आधिपत्य जमानेवाला राजा ही हो सकता है। 'शकेन्द्र' की तुलना इस प्रसंग में हम मृगेन्द्र शब्द से कर सकते हैं जो मृगयूथ के सर्दार के लिए नहीं, मृगों का विनाश करनेवाले सिंह के लिए आता है।

वास्तव में भारतीय परम्परा के शकेन्द्र, शकनृप, शकभूभुज् आदि पद संस्कृत व्याकरण में उल्लिखित 'शाकपाथिव' शब्द के समानार्थक हैं। इस सम्बन्ध में पं० युधिष्ठिर मीमांसक का विचार ध्यान देने योग्य है।

“महाभाष्य २।१।६८ में एक वाकिक है 'शाकपाथिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च ।' इसका एक उदाहरण है—शाकपाथिवः । शाकपाथिव वे कहलाते हैं जिन्होंने स्व-संवत् चलाया। यहाँ शक शब्द संवत् का वाचक है। प्रजादित्वात् अण् से अण् होकर प्राज्ञ एव प्राज्ञः के समान शक एव शाकः शब्द निष्पन्न होता है। (संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, चतुर्थ संस्करण' १९८४, प्रथम भाग, पृ० ४८७)।

इस प्रकार किसी संवत् के प्रचलन से जिनका सम्बन्ध है उन राजाओं को शकेन्द्र, शकनृप, शकभूभुज् आदि कहना साधु हो जाता है।

शक जाति और “शक” शब्द का मूल

फिर भी कुछ विद्वानों का आग्रह है कि ‘शक’ शब्द किसी शक जाति के राजा से सम्बद्ध अवश्य है और उसका मूल अवश्य ही कोई विदेशी भाषा है। इस सम्बन्ध में जो बात भुला दी जाती है वह यह कि पाणिनि की अष्टाध्यायी भी ऐसे शब्दों से परिचित है जो शक-भाषा के माने जाते हैं। इससे स्वाभाविक निष्कर्ष तो यह निकालना चाहिए था कि ईरानी भाषा की भांति शक भाषा भी संस्कृत से निकली है। परन्तु न जाने क्यों हमारे देश के विद्वानों पर सर्वत्र आक्रमण ही आक्रमण देखने की धुन सवार है। इसलिए १५० ई० पू० के शक-आक्रमण के पूर्व नवम शताब्दी ई० पू० में एक और शक-आक्रमण की कल्पना कर ली गयी है। इस मत के दो मुख्य प्रचारक हैं—डॉ० बुद्धप्रकाश और डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल।

डॉ० अग्रवाल लिखते हैं—“पाणिनि की निश्चित रूप से उशीनर (आधुनिक झंग मघियाना) और वर्णु (आधुनिक बन्नू और वजीरिस्तान का इलाका, गोमल-तोची आदि नदियों की दूनों का भाग) प्रदेशों में कथान्त स्थान—नाम मिले। इस प्रदेश में कथान्त नामों की संगति के लिए मानना चाहिए कि पाणिनि से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और सम्पर्क गजनी-गन्धार की अधित्यका से उतरकर तोची-गोमल नदियों के मार्ग से रावी औ चनाब के कांठे (उशीनर जनपद) तक पहुँचा था” (पाणिनिकालीन भारत, १९६९ ई०, पृ० ८२)। इस कल्पना के लिए उन्होंने किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी। न किसी भारतीय ग्रंथ या अभिलेख में ही नवम शताब्दी ई० पू० के शक आक्रमण का उल्लेख है न किसी विदेशी साक्ष्य से ही इसकी पुष्टि होती है। ऐसी स्थिति में ऐसा क्यों न मानें कि शक जाति रावी और चनाब के कांठे से निकल कर गजनी-गन्धार की ओर चली गयी थी ?

भारतीय परम्परा ऐसा ही मानती है। मनु ने शकों की गणना उन क्षत्रिय-जातियों में की है जो कालांतर में म्लेच्छ बन गयी थीं :—

“धृषलरथं गताः लोके इमाः क्षत्रियजातयः ॥

पौण्ड्रकाश्चोड्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः ।”

—मनु० १०।४३-४४

विष्णुपुराण में शकों की गणना उन क्षत्रियों में की गयी है जो सगर द्वारा बहिष्कृत किये गये और धर्मच्युत होकर म्लेच्छ बन गये (म्लेच्छतां ययुः—विष्णु० ४।३।२१)। ऐसे स्पष्ट प्रमाणों को नकार कर कल्पना के पीछे दौड़ना शोध नहीं है। अतः शक भारतीय क्षत्रिय थे जो कभी रावी और चनाब के कांठे में रहते थे। उनकी भाषा प्राचीन संस्कृत ही थी। जब वे भारत के बाहर मध्य एशिया की ओर फैल गये तो उनकी भाषा और संस्कृति क्रमशः भिन्न हो गयी। अतः शक जाति का नाम भी मूलतः संस्कृत शब्द सिद्ध होता है।

इस “शक” शब्द का अर्थ क्या है ? इस सम्बन्ध में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े के विचार मुझे युक्त लगते हैं अतः उन्हीं के शब्दों पर ध्यान दें—“शक से जिस प्रकार

कतु वाचक शब्द शक बना है उसी प्रकार “शक्” से “शक” “कतु” वाचक बनाया गया है। शक का विशिष्ट अर्थ इंद्र भले ही हो फिर भी सामान्य अर्थ ईश्वर, राजा, सामर्थ्यशील व्यक्ति, सत्ताधारी आदि है। वही अर्थ “शक” का है। शक अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यवान् तथा काल-प्रवर्तक राजा” (राजवाड़े लेख संग्रह, आगरा, १९६४ ई०, पृ० २४४)। शक जाति भी समर्थ, ऐश्वर्यवान्, प्रतापी होने से ही शक कहलाती थी। इस नाम की और कोई व्याख्या नहीं है।”

अन्त में हम कह सकते हैं कि ‘शक’ शब्द कानों में पड़ते ही किसी विदेशी जाति की कल्पना करना अनावश्यक है। अतः सुमतित्र में जिस शकराजा का उल्लेख है या महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद जिसका जन्म हुआ बताया जाता है उसे शक जाति में उत्पन्न राजा समझ लेना आवश्यक नहीं है, वरंच इससे भ्रम में पड़ने की सम्भावना ही अधिक है। इसीलिए इस शकराजा का समय १५० ई० पू० के बाद या नवम् शताब्दी ई० पू० के बाद मानना भी आवश्यक नहीं। सुमतित्र में उल्लिखित शकराजा कौन है, वह वीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद जनमे हुए शकराजा से अभिन्न है या नहीं, इन प्रश्नों का उत्तर दे सकने का सामर्थ्य मुझमें अभी नहीं है किन्तु शक-जाति से अनिवार्यतः सम्बन्ध जोड़ने को प्रवृत्ति को संयत किया जाय तो निकट भविष्य में इन प्रश्नों के उत्तर भी प्राप्त हो सकते हैं। अभी तो जैन-साहित्य में प्राप्त समस्त ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह, प्रकाशन और अध्ययन-मनन ही बाकी है।



कालचक्र

कालचक्र सबसे बलवान् होता है। संसार का कालचक्र चलता रहता है। जो जन्म लेता है वह मरता भी है किन्तु इन दोनों के बीच जो व्यक्ति सजगता एवं प्रामाणिकता से जीवन जीकर अपने परिवार में इन संस्कारों को छोड़ जाता है, उसे याद करते हैं। प्रत्येक क्षण मूल्यवान् होता है। जो क्षण का मूल्य समझ-कर प्रमाद नहीं करते वे अपने लक्ष्य व अपनी मंजिल को प्राप्त कर लेते हैं।

‘कालचक्र’ से साभार

THEORY OF RELATIVITY AND SPACE-TIME

□ *Muni Mahendra Kumar*

General Theory of Relativity

In 1916, eleven years after the formulation of the special theory of relativity, Einstein extended it to interpret more general cases of non-uniform motion, i.e. where one frame of reference moves with an accelerated velocity relative to the other. This is known as 'the general theory of relativity'. Its chief achievement is the explanation of the law of gravitation on a more refined and accurate basis than that given by Newton. Einstein has explained here the effect of the mass of the physical substances on the four dimensional continuum of space and time.

Newton's Laws

Newton, in his law of gravitation, stated that every particle in the universe attracts all other particles of the universe towards itself and the force of attraction is directly proportional to the product of the masses of the particles and inversely proportional to the square of the distance between them.¹ This is also known as 'inverse square law'. This concept of gravitation presupposes action at a distance and postulates the existence of a force of attraction between material bodies. For instance, a mass such as the earth or the sun, is surrounded by a space in which there is a latent force ready to act upon and produce movement of a body that penetrates into the space. In consequence, the body falls towards the mass, as if attracted by it. This power of attraction exists permanently in the space near the mass even if there is no body manifesting its existence. The region of space surrounding a mass thus constitutes the gravitational field which imparts a uniform acceleration known as the acceleration due to gravity to all bodies located in that field. The mass seems to act at a distance since the attraction is exerted even through vacuum where there is no ponderable matter, as for example, in the case of the sun attracting the planets.² Thus, Newton was able to explain the motion of planets in the space as well as freely falling bodies (such as apples in orchards) with the

help of this law of gravitation.

Another important law which was enunciated by Newton was the 'law of inertia', which stated that 'a body at rest continues to remain at rest and a body in uniform rectilinear motion continues to be in motion, and a change in the state of rest or motion can be brought only by exerting some external force.' Thus when a body is started or stopped suddenly, a jerk is felt. This is due to the force of inertia.

Generalization by Einstein

As we have seen, in the special theory of relativity, only those systems are considered which are in uniform rectilinear motion. Such systems are also known as 'inertial' systems, i.e. systems in which the law of inertia holds good so that a body not subjected to a force remains at rest or in uniform motion. Now, according to the special theory of relativity, in all inertial systems the physical laws have the same form. Einstein extended this principle of equivalence to systems moving in any way, even with accelerated velocity and, in particular, to a special case of accelerated motion involved in the phenomenon of gravitation.³ Thus, the general theory of relativity states that 'the laws of nature are same for all the systems whatsoever their motion may be.'

Two Imaginary Experiments

Einstein started with the revolutionary idea that the classical picture of a gravitational field is artificial, since it is possible for an observer not to detect such a field at all by choosing a suitable frame of reference. He proved this by two imaginary experiments as follows :

1. Suppose an enclosure (such as an elevator) from which nothing can be known of what goes on outside it, suddenly starts falling freely under the action of gravity. (It may be imagined here that the cables by which the elevator is supported, suddenly break). Imagine that there is a scientist inside the enclosure, who performs an experiment of dropping an apple from his hand. To his surprise he finds that the apple instead of falling down to the floor, remains floating in the space. He performs another experiment by throwing a horizontal projectile. Again he surprises to find that instead of traversing a curved path, it goes on moving along a straight line till it strikes against the walls of the enclosure.

Thus, the force which causes apples to fall and the horizontal projectile to trace a curved path, i.e. gravitation disappears for him. In

other words, all the traces of gravitational field are suppressed and every thing seems to be acting according to the law of inertia i.e. continues to remain in its state of rest or uniform rectilinear motion. The enclosure thus becomes an inertial frame or system and the observer inside it has no means of distinguishing between a gravitational field and field due to uniform acceleration of the frame of reference moving outside all gravitational field.

2. Suppose that the same enclosure is poised far out in interstellar space free from all gravitational field (at an infinite distance from any mass). The scientist inside the elevator would not weigh anything; he could move from one side of the enclosure to the other, or from top to bottom, by the slightest push; he could float in the middle of the elevator without touching it. Now, suppose that unknown to him, a cable were attached to the top of the elevator, and some strong motive force applied to the cable; suppose that this force drew the elevator swiftly in the direction of a line from the bottom to the top of the elevator and kept it in uniformly accelerated motion, the acceleration being equal to that of gravity; and suppose that the force were so steady and noiseless that it was not suspected by the observer inside the enclosure. What would he imagine was happening? For him, everything would take place as if he were in a gravitational field; he would discover that he was being drawn against the bottom of the elevator; only by a strong effort with his legs could he jump away from the bottom for a moment and then he would instantly feel strongly attracted back to the bottom. Actually as we can see from outside, the bottom is being drawn towards him, but he accustomed to his notion of gravitation would never suspect this. He would feel 'attracted by the bottom'. Again if he drops an apple from his hand, it would fall with respect to the enclosure in accelerated motion, the acceleration being the same for all and equal to the acceleration due to gravity. If he throws a horizontal projectile, it would no more travel in a straight line but along a parabola.

The enclosure thus becomes a stationary system acted upon by a gravitational field and the observer inside it can by no means find out whether the elevator is at rest in a gravitational field or in uniform acceleration moving in space outside all gravitational field.⁴

Equivalence of Gravitation and Inertia

From the above imaginary experiments, Einstein deduced what is called as the 'principle of equivalence of gravitation and inertia'. This

principle states : "It is impossible to distinguish between the motion generated by inertial forces (such as centrifugal force, force producing uniform acceleration) and that by gravitational force"⁵

This is as shown above, due to the fact that the effects of a gravitational field are precisely the same as those due to uniform acceleration of the material frame of reference relative to which the phenomena are observed, this acceleration being equal and opposite to the acceleration which the gravitational field would give to a particle in the frame.⁶

It also follows that one cannot speak of the *absolute acceleration* of a reference frame, only a relative one, just as it followed from the special theory of relativity that one cannot speak of the *absolute velocity* of a reference frame, only a relative one. Again, it is clear that inertial mass and gravitational mass are equal. For all bodies which are free of any forces will move with uniform velocity relative to an inertial reference frame, no matter what their inertial masses are, and they should, therefore, have the same acceleration relative to an accelerated reference frame. In other words all bodies irrespective of their masses would move with the same acceleration in a homogeneous gravitational field.

Curvature of Space

The above principle of equivalence formed the basis of Einstein's new theory of gravitation. Using higher mathematics (involving tensors), he derived his famous field-equations, which embodies the law of gravitation. He refused to believe that any such thing as a 'gravitational force of attraction', which was believed by Newton to exist between masses, actually existed. He explained the motion of a body such as a falling apple or an orbiting satellite in terms of altogether a new concept of "Curvature of Space-time" in which it is embedded. Thus, Einstein, discarding the Newtonian "action-at a-distance" concept, reverted to field-point of view.

To understand his view, we take a simple example. Consider a stone attached to the end of string and whirled round, the stone moving along a circular path. We know that a tension is developed in the string called the centripetal force. To an observer on the stone there is a repulsion called centrifugal force equal and opposite to the centripetal force, while to the one who is whirling the stone there is no such centrifugal force. Einstein saw that the apparent repulsive force is due to the curvilinear motion of the stone and he extended the idea of such curved motions to a sort of curved space in order to

explain gravitational force.⁷ Again, since the centrifugal forces had to be considered as due to physical properties of empty space, Einstein turned to the hypothesis that the gravitational forces also are due to the properties of empty-space. Also, it is known that the forces of gravity are produced by masses. If, therefore, gravitation is connected with properties of space, these properties of space must be caused or influenced by the masses.⁸ Thus Einstein explained the phenomenon of gravitation by stating that the presence of matter gives an appreciable curvature to the surrounding space (or more precisely, distorts the curvature of the Minkowski's four-dimensional space-time continuum) and the matter falls down, as it were along the slope of this curvature according to some definite law.

According to Einstein, gravitation is an inalienable property of all masses; where there is a mass, a gravitational field is generated around it in the same way as a magnetic field is created around a magnet. The field itself is nothing but a change in the space-time continuum. In other words, the geometrical properties of space-time continuum are determined by the physical matter existing in it and not intrinsic properties of space and time themselves. These properties in turn determine the motions of that matter.

Features of Gravitational Field

The structure of the gravitational field depends upon mass and velocity of the body, and is determined by the field-equations given by Einstein. Also just as the path of the motion of a piece of iron in a magnetic field is decided by the structures of the field, so that of a body in a gravitational field is decided by the geometrical structures of the gravitational field.⁹

Einstein showed mathematically that the geometric properties of space suffer a change in going over from an inertial to a non-inertial frame of reference, which is equivalent to a gravitational field. Here geometry becomes *non-Euclidean*, as distinct from conventional geometry.¹⁰

As the magnetic fields and the electrical fields are physical realities, so are the gravitational fields. But, unlike the former, the latter emanate from all physical entities, and these include particles and fields. Particles are characterized by mass, and fields by energy. Common to both is energy, which is to say that any kind of energy, is responsible for a gravitational field. However, gravitational interaction becomes important only when bodies of appreciable mass are involved.

Another remarkable feature of the gravitational fields is that through a number of identical, transformations of the equations, the equations can be turned into the "equations of motion" of the physical system responsible for the gravitational field concerned. Thus the gravitational field equations incorporate the equations of the matter which creates the field. It should be noted, however, that the gravitational field equations do not determine completely the distribution and motion of matter.¹¹

POST-EINSTEININ SCIENTIFIC CONCEPT

The theory of relativity brought about some revolutionary changes in the concepts of modern physics. Amongst them the most startling one was regarding the nature of space and time. Einstein, in the light of his theory of relativity, imagined the universe as a "four-dimensional continuum of space and time" According to Einstein, the three dimensions of space and one dimension of time are welded together forming a four-dimensional volume which he described as a "continuum." According to great German mathematician, Herman Minkowski, who developed the mathematics of the space-time continuum as a convenient medium for expressing the principles of Relativity, "Space and time separately have vanished into the merest shadows, and only a sort of combination of the two preserves any reality."¹²

It is very difficult to describe the new concept without the use of mathematics. But still the concept of "four—dimensional continuum" may be explained in simple language as follows: it is a simple fact that when a body exists in space, it occupies the three dimensions of space, on account of its length, breadth and height (or depth). Now, when it changes its position in space (i.e. when its motion takes place), it takes some time. Thus, to describe the motion of any body we should have the knowledge of two factors: its position in space and time required to change the position. The position is described by the three dimensions of space. Hence, time is referred to as the fourth dimension. Now, the theory of relativity welds together the three dimensions of space and the fourth dimension of time.

Minkowski showed that the theory of relativity required all electrical phenomena (all physical phenomena are considered to be ultimately electrical) to be thought of as occurring not in space and time separately as had hitherto been thought, but in space and time welded together so thoroughly that it was impossible to detect any

traces of a join, so thoroughly that the whole of phenomena of nature were unable to divide the product into space and time separately.¹³

Eminent scientist Werner Heisenberg, describing the new structure of space and time, writes : “When we use the term ‘past’, we comprise all those events which we could know at least in principle, about which we could have heard at least in principle. In a similar manner we comprise by the term ‘future’ all those events which we could influence at least in principle, which we could try to change or to prevent at least in principle. It is not easy for a nonphysicist to see why this definition of the terms ‘past’ and ‘future’ should be the most convenient one. But one can easily see that it corresponds very accurately to our common use of the terms. If we use the terms in this way, it turns out as a result of many experiments that the content of ‘future’ or ‘past’ does not depend on the state of motion or other properties of the observer. We may say that the definition is invariant against the motion of the observer. This is true both in Newtonian mechanics and in Einstein’s theory of relativity.

“But the difference is this : In classical theory we assume that future and past are separated by an infinitely short time interval which we may call the present moment. In the theory of relativity we have learned that the situation is different : future and past are separated by a finite time interval the length of which depends on the distance from the observer. Any action can only be propagated by a velocity smaller than or equal to the velocity of light. Therefore, an observer can at a given instant neither know of nor influence any event at a distant point which takes place between two characteristic times. The one time is the instant at which a light signal has to be given from the point of the event in order to reach the observer at the instant of observation. The other time is the instant of the observation, at which the light signal reaches from the point of the event. The whole finite time interval between these two instants may be said to belong to the ‘present time’ for the observer at the instant of observation. Any event taking place between the two characteristic times may be called ‘simultaneous’ with the act of observation”.¹⁴

Thus, in the theory of relativity space and time are related with each other, because of the finite velocity of light. The mathematical formula of Lorentz transformations reveal that the velocity of light is the maximum possible velocity. It means that no body can travel faster than light, and hence, the knowledge we obtain through our

senses or external equipments cannot be obtained faster than the velocity of light. Consequently, the time taken by an observer in perceiving any event cannot be lessened beyond a certain limit. That is to say that the definition of simultaneity depends upon the spatial distance between the point of event and the observer.

This relation of space with time can be clearly understood by the example. *A* is the point of observer and *B* is the point of event (say, a collision between two cars). The instant of the observation of the event and the instant of the happening of the event are not the same, for the light will take a finite time to travel the distance *AB*. Thus, the time, which we term as 'present' in our daily practice, is not a single instant but comprises of the whole interval that has elapsed between the happening of the event and the perceiving of the event by the observer, and the length of the interval will depend upon the distance between the observer and the point of event. It should be noticed here that however small the distance *AB* may be light, on account of its finite velocity, will take finite time to traverse it.

A practical astronomical example will reveal the importance of the new character of space and time. If, in the above example, *B* is a star 50 light-years⁵ away from the earth and *A* is the observer on the earth making the observation of the events on the star through a telescope. Now, suppose that an explosion on the star is being observed by the observer. In our ordinary expression, we shall say that the event of observation on the earth and the event of explosion on the star are simultaneously taking place. But is it true? No, Since the star is 50 light years away from the earth, the light from the star will take 50 years to reach the earth. It means that the explosion which is being observed 'Now', had already taken place 50 years ago. Thus, it becomes clear that the term 'simultaneous' has not remained absolute, but it depends upon the distance between the two events. In other words, space and time are related to each other and the events of the universe are effected by them jointly.

Physical Implications

1. During the discussion of Michelson-Morley experiment, we have seen that Lorentz and Fitzgerald explain the null result by showing the contraction in space-and-time-dimensions. These are popularly known as 'Fitzgerald-Lorentz Contractions' and their values can be found by 'Lorentz Mathematical Equations'.

Einstein's theory of relativity also implies that when a system

moves, there occurs a contraction in the space-and-time-dimensions. This means that the length of the moving body contracts in the direction of the motion and a clock placed in such a system moves slowly. The amount of these contractions depends upon the velocity of the system. The faster the system moves, the slower the clock becomes and the smaller the measuring rod becomes. And if we imagine that the speed of the moving system becomes equal to that of light, the clock placed in the system would stop and the measuring rod placed in the system would have no length at all! But actually this is impossible, and hence, it is implied that the velocity of light cannot be reached in practice.

2. Like space-and-time-dimensions, mass¹⁶ of a body in motion is also affected by the motion. In classical physics, the mass of a body was regarded to remain constant. That is to say that if a body is at rest or in motion, its mass always remains the same. But the theory of relativity shows that the mass of a body is a function of its velocity,¹⁷ and thus increases with the increase in the speed of the body. When the velocity of the body is negligible in comparison to that of light, the increase in the mass of the body is also negligible. But when the velocity of the body approaches the velocity of light, the increase in mass also becomes considerable; and if we imagine a body moving with the velocity of light, its mass would become 'infinite'. But this is impossible, and therefore, it follows that the velocity of any moving body cannot become equal or greater than that of light.

3. In classical physics, matter and energy were regarded to be independent of each other, and hence there were two independent laws of conservation—one the law of conservation of matter and the other that of conservation of energy. Matter was considered to be inactive, visible and possessing mass, while energy, in contrast to matter, was conceived to be active, invisible and massless.

Now, Einstein, as a consequence of the theory of relativity, showed that mass and energy were essentially the same thing. He argued that the increase in the mass of a body with the increase in its speed indicated that there should be a direct relation between mass and energy (one of whose forms is motion).

Advancing on this line of argument, Einstein established the 'principle of equivalence of mass and energy', and with the help of mathematics, discovered the epoch-making 'mass-energy equation'.

This principle shows that mass and energy are mutually convertible under certain conditions. Thus, when a certain amount of matter is converted into energy, the energy obtained is equal to the product of mass and square of the velocity of light,¹⁸ and similarly when an amount of energy is converted into matter, the mass produced is given by the energy divided by the square of the velocity of light.

An illustration will clarify the relation : Suppose that one kilo-gram of coal is totally converted into energy; then the energy obtained would be equivalent to 25 billion kilo-watt-hour of electricity.

As a result of this new discovery, the two independent laws of conservation of mass, and that of energy, have been united to form a single law of conservation of mass and energy, enunciating that the sum total of energy and mass $\times c^2$ (where c =velocity of light) is constant for any system and cannot increase or decrease. Thus the mass-energy equivalence establishes the universal fact that mass and energy are essentially the forms of the same entity.

The chief merit of the mass-energy relation lies in the fact that it is experimentally verified for all types of energy. The most prominent verification is found in the discovery of the atom-bomb.

(To Continue)

References :

1. Mathematically, this can be expressed as follows : The force of attraction between two masses M_1 and M_2 , in grams separated by a distance of d centimetres, is given by $F = \frac{G \cdot M_1 \cdot M_2}{d}$ dynes: where G is the gravitational constant, 6.659×10^{-8} C.G.S. units.
2. Cf. *Atomic Physics* by J.B. Rajam. p.392
3. Cf. *Ibid*, p. 394
4. Cf. *Ibid*, p. 393; also, *The Universe and Dr. Einstein* p. 85-86
5. Cf. *The Universe and Dr. Einstein*, p. 89
6. *Atomic Physics* by Rajam, p. 393
7. Cf. *Atomic Physics* by Rajam, p. 393
8. *Physics and Philosophy* by Heisenberg, p. 108.
9. Cf. *The Universe and Dr, Einstein*, p. 90
10. We shall discuss this point in "Non-Euclidean Geometry" in the next article.
11. Cf. B. Ivanov, *Contemporary Physics*, Peace Publishers, Moscow.

12. *The Universe and Dr. Einstein*, p. 76.
13. Cf. *The Mysterious Universe*, p. 86
14. *Physics and Philosophy*, p.102-103.
15. As stated before, light travels at the speed of 186000 miles per hour. The distance travelled by a ray of light within a year, is called light-year.
- 1 light-year = 5.88×10^{12} miles.
16. Though, popularly, mass and weight are regarded to cannote the same meaning, in scientific definition, they devote different properties of matter. Mass is considered to be more fundamental than weight. It is a matter of observation that a force applied to a body produces an acceleration proportional to the force. The constant of proportionality is the mass of the body. Thus, the mass of a body is a measure of its 'inertia' or reluctance to change its motion. The greater the mass of a body is, the more is the force required to move it. It may be remarked here that usually, even in the scientific works, mass is regarded as the amount of matter and sometimes used as synonymous to matter.
17. The relation of the mass with velocity is given by the following mathematical formula :

If

- m_0 = mass of the body at rest,
 m = mass of the body in motion,
 v = the velocity of the body,
 c = the velocity of the light,—

Then

$$m = \frac{m_0}{\sqrt{1 - \left(\frac{v^2}{c^2}\right)}}$$

18. Mathematically, the equation connecting the two quantities in any such transformation is :—

$$E = mc^2 \text{ or } m = \frac{E}{c^2}$$

where

- c = velocity of light.
 E = energy released.

and

m = mass completely converted into energy.

□□□

NEW DIMENSIONS IN YOGA PHILOSOPHY

□ *Dr. (Mrs.) Ratna Purohit**

The pursuit of truth must culminate in the realization of truth. And the pathway or the process leading to the discovery of truth must be made a public property so that anyone who would care to practise the same might discover and realize the truth.

How can one realize the truth unless exerts oneself for it? And why should one exert oneself for the truth unless one has implicit faith in it and the possibility of its realization? One must have either unflinching faith in the authority of one's preceptor, or else one must have a direct glimpse of the truth itself before one can proceed in the path of realization. Implicit faith in the truth, whether born with the help of the preceptor or fostered by a spontaneous intuition of the truth is the starting point of the path of spiritual realization.

There are various processes of leading oneself from this stage of implicit faith in the truth to the stage of final realization of truth. The process have a common term for them and that term is *yoga*.

The term *yoga* has a chequered history. The word 'yoga' occurs in the earliest sacred literature of the Hindus in the *R̥gveda* with meaning of effecting a connection. Later on, the same word is used in the sense of yoking a horse. In still later literature, it is found with the meaning of controlling the senses, and the senses themselves are compared with uncontrolled spirited horses 'indriyāṇi hayāny-āhuḥ'.¹

In Pāṇiṇi's time the word *yoga* had attained its technical meaning, and he distinguished the root 'yuj Somādhau' (√yuj in the sense of connecting) Maxmuller, a great philosopher, is of the view that 'yujir yoge' (in the sense of connecting) is more appropriate meaning of the word *yoga*.

An objection may be raised that *yoga* is meant only for those who long for liberation. So this *yoga* has no utility in the empirical life and that too with reference to the common man. It is not so, whatever is needed for the survival of a man on this earth, can be gained by the

*Assistant professor in the Dept. of Jainology, Jain Vishva Bharati, Ladnun.

practise of yoga. Both kinds of health—mental and physical necessary for survival and that can be achieved through yoga only, As it is stated that “*manaḥ eva manuṣyāṇām kāraṇam bandhamokṣayoḥ.*”

The realization of the true nature of Ātman or the identity between jīva (soul) and the absolute reality (Brahman) is the purpose of yoga. With reference to a common man, the identity between himself and others must be maintained through the practise of yoga then only the purpose of survival of a man on this earth will be fulfilled. And to know the true nature of himself (Ātman) can be realized only by the control of mental states. As Patañjali states in his ‘*yogasūtra*’ “*yogaścittavṛttinirodhaḥ*”.²

Mind is the product of Prakṛti (nature) and composite of three guṇas, namely, intelligence-stuff (*sattva*), energy stuff (*rajas*) and mass stuff (*tamas*) with a predominance of the first. Because of this predominance, mind is translucent and is able to reflect the consciousness which is the spirit. It is mind which receives this reflection and that becomes the experient, it knows, feels, and wills through the appropriate modes of its own.

Mind has infinite modifications (*vṛttis*) and these modifications can be divided into five categories, namely, true cognition (*Pramāṇa*), erroneous cognition (*Viparyaya*), imagination (*Vikalpa*), sleep (*nidrā*) and memory (*Smṛti*). In a state when all these five modifications (of mind) submerge (or become obstructed) it is known as yoga. With reference to a man when one practises yoga and through yoga his mind becomes obstructed (of modifications of mind) then he helps others or himself in achieving his good of life i.e. to know the true nature of himself. For example : as in the river many waves come out through the waters and again submerge into it, in the same way, mind has many emotions, namely, desire, greed, anger, disgust etc. (born in the mind) and when these emotions are controlled, an aspirant realizes his true nature, that is, pure self. As in the water, which is shaking, an object cannot get its reflection properly, when the same water is steady and calm an object gets its reflection. In the same way, soul gets reflected in the mind when it is free from emotions.

In order to liberate the soul from bondage mind must be rid of its afflictions. The basic discipline which will effect this riddance is ethical training. The energy stuff and the mass stuff of the mind should gradually be reduced, and allow the natural intelligence stuff to shine.

There are eight elements by which mind can be cleansed. They

are, abstention (yama), observance (niyama), posture (āsana), control of respiratory system (prāṇāyāma), withdrawal of the senses (from their objects) (pratyāhāra), fixed attention (dhāraṇā), meditation (dhyāna) and concentration (samādhi). The last three steps are stages in mind-control and therefore, they constitute yoga proper.

When there is an excess of the energy stuff in the mind, the mind gets tossed about by the objects. This state of the mind is coined as restless (kṣipta), when the mind has an excess of the mass-stuff, it becomes a victim to sleep and is then said to be blinded (Mūḍha). When the mind is unstable shifting its attention from object to object, it is described as distracted (vikṣipta). The three mental states mentioned above are not conducive states, they are associated with a preponderance of the energy stuff the mass stuff or and serve therefore, as obstacles to yoga. The states of the mind which are conducive, on the contrary, are one pointed (ekāgra) and restrained (niruddha). The one pointedness of mind is that which is devoted to single object and is filled with the intelligence stuff. This prepares the mind for its ascent to yoga. The restrained mind is that from which distractions have been checked and the flow of modifications has been arrested.

The Bhagavad gītā is of the view that evenness of mind is termed as yoga 'Samatvam yoga ucyate.'³

The man who has evenness of mind casts off in this world both merit and demerit through attaining mental purity and knowledge. Therefore, one must apply oneself to devotion with equanimity. Again the Gītā states that yoga is the very dexterity of work.

“yogaḥ karmasu kauśalam”⁴

The dexterity of work can be had through the evenness of mind. So one must practise for evenness of mind and through which he can achieve the perfection in his duty too. Through this process one understands the life in better way and tries to maintain the identity between himself and the others

To sum up : yoga plays a vital role for the improvement of positive traits, and for the successful completion of life.

References :

1. Kathopanisad—1.3.4
2. Yoga Sūtra—I.2
3. Bhagavad Gītā—II. 48
4. Bhagavad Gītā—II. 50



SOME PROBLEMS OF MĀGADHĪ DIALECT

□ Jagat Ram Bhattacharyya*

(Continued from the previous Number)

PHONOLOGY

1. On the Treatment of Sanskrit *r* in Māgadhī

In Māgadhī Sanskrit *r* becomes *l*, for example, *narah* > *ṇale*, *puruṣah* > *puliṣe*, etc.

On the characteristic features of *r* changing into *l* in Māgadhī, all the prakrit grammarians are unanimous, except Mārkaṇḍeya who has made the *r* changing into *l* as optional (*rasya lo vā bhavet* XIII 3). It is difficult to trace the authority of Mārkaṇḍeya for making this change as optional, because this one of the very vital characteristic features of Māgadhī and even in standard Sanskrit literature, there is hardly any exception to this rule. Though there are some editions where this discrepancy is noticed in Ḍhakkī, one of the sub-dialects of Māgadhī, unless their editions are checked by manuscripts it is difficult to comment on them. That *r* is changed into *l* in Māgadhī has a long history and this phenomenon can be traced from the Vedic times even if not earlier. In the Ṛgveda (=RV.) between *r* and *l*, *r* occurs in most of the cases instead of *l* which occurs mostly in the books which are chronologically later in origin. In the same type of word if *r* occurs in the earlier text it is noticed that it is replaced by *l* in later text. Here examples are to be given from the RV. But in the Atharva-Veda *l* occurs more than RV. and the Atharva-Veda (=AV.) is regarded as a vedic text composed in the Eastern region of India. If that is true then the tendency of changing *r* into *l* is very old. Though historically the documentary evidence of prakrit started from the 6th or 5th century B. C. i. e. from the time of Mahāvīra, its history could be traced from the Vedic times, at least, as early as 1000 B.C.

It is a fact worthnoting that *l* does not occur in Avestan and old Persian. In Old Persian only in three or four words which are borrowed from some other languages *l* occurs and if we trace this phenome-

* Lecturer in the Dept. of Prakrit, J.V.B., Ladnun.

non from the Indo-European period we can say that the tendency is more *r* than *l* even in Indo-European.

Here a question may be raised whether the interchanges between *r* and *l* can be possible. In a sense *r* was not a cerebral sound in Indo-European¹ (=IE), because there is no cerebral sounds in Greek, Latin etc. and that is why the interchanges between *r* and *l* was possible, because the place of utterance of both was dental. And that is why IE **l* becomes *r* in sanskrit. For example IE **leuqos*=OIA *rocas* etc. and because of that reason in sanskrit the dictum *ralayo-rabhedah* has come into existence. In this connection it could be mentioned that Vārttika-sūtra *r-l-varṇayormithaḥ sāvarṇam vācyam*, is made, by Kātyāyana, because in his time the place of utterance of *r* and *l* were not the same, Kātyāyana, atleast, understood this much that their place of utterance though not the same, they should be considered as homogeneous, so that in sandhi between *r* and *l* we could have either *r* or *l* or both.

Apart from this, we can trace even from prakrit that *r* was not originally cerebral. This is evident from the treatment of *r* in prakrit. *r* in conjunct with *t*, that is *r+t*, has two-fold development. In one place *r+t>tt*, and in the other *r+t>ʃʃ*. Hemacandra has a sūtra which indicates this twofold development of this conjunct *r+t*. Hemacandra has classed them in a group of words where *r+t* become *ʃʃ* (*rtasy-ādhūrtādu* 2. 30), for example, *kaivartaḥ>kevaʃʃo*, *vṛttiḥ>vaʃʃī* etc. where *r+t* becomes cerebral *ʃ* i.e. because *r* is a cerebral sound, it has influenced the dental sound which is turned into a cerebral.

The other group where *r+t* does not become cerebral is referred to by Hemacandra as *adhūrtādi* class. For example, *dhūrtaḥ>dhutto*, *kīrtiḥ>kitti* etc. Though in most of the cases *r+t* becoming cerebral, the instances where it does not occur reminds us the historicity of the development of this sound *r*. Accidentally because *r* was a dental sound originally it did not develop into cerebral and because those words are small in number they belong to the *dhūrtādi* class and in most of the cases the rest of the combination *r+t* become cerebral, because by that time the pronunciation of *r* is changed from dental to cerebral, and the first Sanskrit grammarian who mentioned *r* as a cerebral sound was Candragomin between 5th and 7th centuries A.D. It means that Candragomin first recorded this fact or the nature of *r* as cerebral. It seems probable, that the tendency started before the time of Pāṇini as his rules for *ṇatvaṣaiva*, particularly after *r*, suggest the cerebral nature of *r*. But the records of *Prātisākhya* do not also

justify that *r* was all along a cerebral sound and there are some words where *l* is used instead of *r* and this record shows that *l* was more or less a feature in the Eastern region of India. Hence, there is no irregularity that *r* becomes *l* in Māgadhī, where it is generalised as one of the distinct features whereas in Sanskrit it was in a fluid stage.

2. On the Development of Sanskrit *j* into *y* in Māgadhī :

In Māgadhī, palatal *j* is substituted by semivowel *y*. For example—

<i>jāyate</i>	=	<i>yāyade,</i>
<i>jānāti</i>	=	<i>yāṇādi,</i>
<i>janapadaḥ</i>	=	<i>yaṇavade,</i>
<i>arjunaḥ</i>	=	<i>ayyaṇe,</i>
<i>durjanaḥ</i>	=	<i>duyyaṇe.</i>
<i>garjati</i>	=	<i>gayyadī. etc.</i>

Vararuci has a simple sūtra *joḥ yaḥ* (XI.4), where he mentions only *j>y*. Hemacandra however, has included two more sounds in his sūtra for *y*. His sūtra is *ja-dya-yām-yaḥ* (4.292). The reason for the inclusion of *dy* and *y* in the sūtra is to indicate that *dy* when becoming *jj* in Mahārāṣṭrī that should also be changed into *yy* in Māgadhī. Remembering his sūtra *dya yya-yām jaḥ* (2.24) he has formulated his sūtra for Māgadhī and therefore he has included *dy*, so that there can not be any confusion in Māgadhī for the change of *dy* into *yy*. For example *adya>ayya* in Māgadhī and *ajja* in Mahārāṣṭrī and also in Śauraseni. The reason to include *y* in the sūtra for becoming *y* is to make the point clear whether the sūtra *āder yo jaḥ* (1.245) would be barred or not. In his opinion even that sūtra is not applicable in Māgadhī. So Hemacandra has made this sūtra in such a way, that his two sūtra for Mahārāṣṭrī should not be applicable in case of Māgadhī. Actually Trivikrama has followed Hemacandra and so he has not added anything new to this conception.

Puruṣottama, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya have formulated the sūtra for changing *j* into *y* only. Puruṣottama however, has a new inclusion in the sūtra by which *jh* becoming *yh*. It is, however, difficult to understand what Puruṣottama has meant by this. It appears he might have included with the idea that if *j* becomes *y* then *jh* becomes *yh* that is to say, he has made the semivowel and aspirated one. It is also difficult to guess at present whether *jh* was pronounced like *yh* at the time of Puruṣottama, that is to say, an aspirated *y* (which is represented by phonetic symbol Zh=zh). Puruṣottama belongs to the 12th/13th century A.D. and that was a

time for the beginning of NIA languages and the Persian languages including Arabic started infiltrating into the NIA languages like Bengali, Hindi, and others, and Puruṣottama might have referred to some of the sounds for which he has a symbol like *yh* (य). However, there is one or two examples of this type of sound in the Mṛcchakaṭik. Such as *yhanayhaṇanta* for *jhana jhaṇanta*. Pischel (§ 236) thinks that the reading *jhana jhaṇanta* (1.25) should be written as *yhanayhaṇanta* and *jhaṭiti* > *jhatti* should be *yhatti* and even the conjunct consonant with *jjh* should be *yyh*, for example, *nirjhara* > *nijjhala* > *ntyjhala*. However, in the printed edition of the Mṛcchakaṭik we do not really find the readings as suggested by Pischel. Puruṣottama's inclusion of *yh* need further investigation to support his reading for the conjunct of *jj* > *yy*. Kramadīśvara is very specific and says that the conjunct or non conjunct *j* or *jj* becomes *y* or *yy* (*yo*) *yukta-yajayoh* (V. 87).

From the above discussions, it is quite clear that all the grammarians have prescribed the palatal *j* should be changed into semivowel *y* be it single or conjunct.

One point may be raised in this connection whether *y* in Māgadhī was pronounced as palatal *j* or semivowel *y* (= *ia*). It is obviously very difficult to answer this question in the present day, but the evidence of the pronunciation of *y* in some of the NIA languages might give us some clue to guess the pronunciation of *y* in Māgadhī. As in the Eastern part, particularly in Bengal (and also in Orisa), *y* is pronounced as palata! *j* or palatal affricate, we can infer that this area has inherited the Māgadhī pronunciation of *y*, which could be either palatal or palatal affricate. That *c-varga* is pronounced with *yc*, for example, *tiṣṭha* > *yciṭṭha*, shows that *c-varga* was palatal or palatal affricate in Māgadhī. This process is not peculiar only to Māgadhī, or for that matter, in the eastern part of India this process started perhaps from the Vedic times. In some of the Śikṣās, for example in the Yājñavalkya Śikṣā, Laghu Amoghānandini Śikṣā, Keśavī Śikṣā etc., the interchanges of *j* and *y* are frequently found and the Śikṣās have recorded quite a large number of words in the text. In the Laghu Amoghānandini Śikṣā some examples are given: *bāhya* > *bāhja*, *sūrya* > *sūrja*, *upayajñāt* > *upajajñāt*, so also in the Prātisākhya pradīpa Śikṣā, *nṛpāyya* > *nṛpājjam*, *dhāyyā* > *dhājā*.

Yājñavalkya Śikṣā (verses 150 ff) has recorded an interesting phenomenon in his book. It is said that *y* was to be pronounced as *j* in the beginning of a hemistich, in the beginning of a word, in a consonant group of often an *avagraha*, otherwise it was to be pronou-

nced as *y*, But *y* remained a semivowel in the initial syllable of a word when it was preceded by a prefix, as in the word *vidyut*.² The verses which tell this fact are quoted below :

*Pādādāu ca padādāu ca saṁyogā'vagraheṣu ca,
jah śabdaḥ iti vijñeyo yo'nyah sa ya iti smṛtaḥ ||
upasargaparo yas tu padādīr api dṛśyate,
Iṣat-prṣṭo yathā vidyut padacchedāt param bhavet ||*

This evidence shows that the changes between *j* and *y* are very old. Although we do not know exactly the dates of all these texts, it is, at least, presumed that they cannot be later than the 3rd or 5th century A.D. However, that was the time of prakrit language side by side with Sanskrit. We do not know any prakrit grammar before Vararuci (5th/6th century A.D.) who has given the characteristic features of Māgadhī. Although the genuineness of his chapter on Māgadhī is questioned many times by scholars, it has, at least, recorded this fact that *j* is changed to *y*. Though the Śikṣās mentioned above have not said the exact nature of pronunciation of this *y*, it can be only assumed that the pronunciation of *y* was almost similar to that of *j*.

The exchange of *j* and *y* in Vedic literature between the two texts of the same mantra or of the same word is interesting. This interchange proves conclusively the phonetic instability between *j* and *y* in the Vedic language as also in prakrit. This change goes in either direction, i.e. either *j* becoming *y* or *y* becoming *j*. Some scholars suggest that this interchange between *j* and *y* may be the corruption of manuscripts or may be the phonetic changes between them. Some of the examples of this nature are given below.³

tato ha jajñe (MS *tato haṁ yajñe*), *bhuvanasya gopāḥ* (MS *goptā*)
TB. ApŚ. MŚ. : *tato ha jajñe bhu gopāḥ* PB. Here the reverse change has occurred, MS is clearly secondary.

However, whether it is a manuscript corruption or dialectal variation in phonology is not easy to ascertain now; but it tells us quite clearly the fact that exchange of *j* and *y* was noticed even in the Vedic language as well as in prakrit, and in course of the evolution of the exchange of *y* ultimately became a characteristic features in Māgadhī. *y* may be an orthographic representation for *j* and the pronunciation for *y* might be palatal affricate as suggested above.

3. On the Pronunciation of Māgadhī Palatals :

On the pronunciation of Māgadhī palatals⁴ i.e. *c-varga*, the prakrit

grammarians⁵ are not very clear. There are two schools of prakrit grammarians—Eastern and western. Hemacandra (=Hc.), Trivikrama (=Tv.), Lakṣmīdhara (=LD.) and Sīmharāja (=SR) belong to the western School and Vararuci (=Vr.), Puruṣottama (=Pu.) Kramadīśvara (=Kī), Rama Trakavāgīśa (=RT.) and Mārkaṇḍeya (=Mk.) belong to the Eastern School. The western prakrit grammarians have not made any sūtra on the pronunciation of Māgadhī palatals. It is only the eastern Prakrit grammarians who have discussed the problem at great length. Even the pattern of formulating the sūtras of eastern Prakrit grammarians are not exactly the same, though they all have tried to indicate the same type of phenomenon. Before discussing the problem, let us give first, the sūtras of all these grammarians concerning the problem :

- (i) Vr. — *cavargasya spaṣṭatā tathocāraṇaḥ* (XI 5).
(ii) Pu. — *cuḥ spaṣṭa-tālavyaḥ* (XII. 13).
(iii) Kī. — *ya-pa (ra)—cavarga yuktā manāguccāryāḥ* (V.85).
(iv) RT. — *cavargakāṇām upari prayojyo
yukteṣu cāntaḥstha yakāra eva* (2.2.18).
(v) Mk — *cajayor-upari yaḥ syāt* (V. 21).

Let us first discuss the views of Vararuci. The meaning of the sūtra of Vararuci as Bhāmaha interprets it is *ca-varga yathā spaṣṭa tathocāraṇa-bhavati* meaning there by that *c, ch, j, jh* and *ñ* are so pronounced as to be clear. The sūtra as it is printed in Cowell's edition seems to be corrupt and Cowell did not take any note of the emendation of this sūtra as done by Lassen some nearly 20 years ago before Cowell. Lassen in his book *Institutiones Linguae Pracriticae*, 1837, emended the reading *spaṣṭatā* as *aspaṣṭatā* meaning 'not clear'. Probably Lassen wanted to mean that the pronunciation of *c-varga* is not clear in Māgadhī. But even then whether the reading is *spaṣṭatā* or *aspaṣṭatā*, Cowell thinks that the meaning of the sūtra is not clear. He says, 'this sūtra of Vararuci is very unintelligible, as it stands in the manuscripts with *spaṣṭatā* and Lassen's conjecture of *aspaṣṭatā* does not seem satisfactory'. As both the readings are not very clear, Cowell suggests that the reading *asprṣṭatā* could be accepted in place of *aspaṣṭatā* and with this emended reading, Cowell translates the sūtra thus, 'the palatal letters are pronounced with but a very slight contact of the tongue with the roof of the mouth. The *ābhyantara prayatna* or internal effort in the utterance of the palatals, is properly *sprṣṭa*, because the organs of utterance are in contact'. However, whatever may be the readings *spaṣṭatā*, *aspaṣṭatā* or *asprṣṭatā*, it is clear that the intended meaning of the sūtra is not really very intelli-

gible and therefore, it is difficult to form and idea of what this sūtra intends to say.

Like Vararuci the sūtra of Puruṣottama—*cuḥ spaṣṭa tālavyaḥ* is also not very clear. What Puruṣottama means by *spaṣṭa* is not easy to ascertain. Literary it means the pronunciation of *c-varga* is a clear palatal sound. Actually Puruṣottama's sūtra is nothing but the echo of Vararuci.

The sūtra of Kramadīśvara on this point is *yapa (ra) cavarga yuktā manāguccāryāḥ* (V.85), which generally means the pronunciation of *c-varga* is slightly (touched in the palata!) and is to be pronounced like the manner when *y* is prefixed before the *c-varga*. This meaning of the sūtra has been obtained on the basis of the emendation made by S.R. Banerjee in his edition of 'Kramadīśvara' Prakrit Grammar, published by Prakrit Text Society, Ahmedabad, 1980. Before emendation, the reading of this sūtra was found in the manuscripts and in one of the very earliest printed texts of Kramadīśvara's Prakrit Grammar. The reading of the different manuscripts as consulted by Banerjee is given below in order to understand the obscurity of the sūtra.

'*ṣaṭa cavarga yuktā manāguccāryāḥ*' (printed edition).

'*yaṭa-cavarga yuktā manāg-uccāryāḥ*' (C₁),

'*yaṭa-cavarga yuktā manāg-uccāryāḥ*' (C),

'*yaṭa-cavarga yuktā manāg-uccāryāḥ*' (A), and the reading of Lassen is '*yapa cavarga yuktā manāg-uccāryāḥ*'.

The insertion of *p* and *ṭ* leaves us in doubtful obscurity. Another reading beginning with *ṣ* is undoubtedly a scribal error for *y* as corroborated by the readings of other manuscripts. What happens in this sūtra is that the insertion of *y* in the sūtra could not be understood by the scribes who might have considered this as irrelevant in connection with the pronunciation of *c-varga*. The insertion of *p* in the reading of Lassen seems to be the reading very near to the original which was composed by Kramadīśvara yet, as the meaning of the sūtra still not clear, the emendation of the reading of Lassen is necessary. As the other eastern Prakrit grammarians, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya have made the sūtra which is very helpful in understanding the meaning of Kramadīśvara's sūtra, the sūtras of Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya are quoted below :

cavarga-kāṇām upari prayojyo yukteṣu cāntaḥ-siṭha-yakāra

(RT. II.2.18) and *cajayor upari yaḥ syāt* (Mk. XII.21). The simple meaning of their sūtras is '*ca-varga* is to be pronounced with

y prefixed to it.' Mārkaṇḍeya further says, '(*ciṭṭhaṣya tu ściṅṭah XII. 32*), that is, the Śābarī *ciṭṭhadi* (skt. *tiṣṭhati*) becomes *ściṅṭadi* in Māgadhī which again (*ściṅṭo yciṣa ityeke XIII.3*) becomes *yciṣadi* in Śākārī, a variety of Māgadhī. Again in the Vṛacaḍa Apabhraṃśa spoken in Sindh (i.e. North-West) he tells us that y is prefixed to c, and j as in *ycaī* (Skt. *calati*), *yjalat* (Skt. *jvalati*). Finally, in Śaurasenī-paiśācikī (XX.4), which is a variety of Kekaya-Paiśācikī, of the extreme North-West, '*cavargasyo' pariṣṭād yah*, i.e. y is prefixed to the letters of *ca-varga*, i.e. 'only to c, ch, j jh and ñ, as the language does not possess sonant mutes.' Thus *ychale* for *chalam* *paycche* for *pakṣam*. Thus far is the view of the eastern grammarians'.

This idea that y is to be prefixed to *c-varga* is perhaps what Kramadīśvara has wanted to say. That is why the reading of Lassen could be improved as *yapa (ra) cavarga yuktā manāg-uccāryāḥ* on the light of the sūtras of Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya. The meaning of the sūtra thus emended can go on a par with the sūtras of Eastern Prakrit grammarians like Puruṣottama, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya 'It is quite possible', says Bauerjee⁶ 'that at the time of Kramadīśvara, the palatal sounds were pronounced with y prefixed to it. This was still prevalent at the time of Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya'. To add to it we can say that this is still the pronunciation of *c-varga* in the eastern region of India, particularly in Bengal. What was the pronunciation of Māgadhī palatal in those days is the palatal-affricate of modern times. Perhaps, this idea of palatal affricate was indicated by the statement that *c-varga* would be pronounced with y prefixed to it.

In fact this sūtra suggests the affricate nature of *c-varga* in pronunciation. It indicates the manner of pronunciation. Affricate pronunciation means that when *c-varga* is pronounced the back of the upper part of the tongue is fixed to the palate and thereby obstructing the air-passage, but as soon as the air is released, the pronunciation of *c-varga* becomes clear. This abstract idea of pronunciation is recorded by the eastern prakrit grammarians by using the sound y prefixed to it. It appears that there is hardly any better way by which a pronunciation can be recorded.

Grierson⁷ on this point says 'It appears to me, therefore, that we can gather from the remarks of the prakrit grammarians quoted that in standard Mahārāṣṭrī Prakrit and in Śaurasenī (which in this respect followed Mahārāṣṭrī) the palatals were probably pronounced as dento-palatals, as in Modern Mārāṭhī, but that in Māgadhī they were pron-

ounced clearly as true palatals*.

But the opinion of Grierson is explained by Suniti Kumar Chatterji⁸ in a different way. Chatterji says that the palatals in Māgadhī were pronounced distinctly and pronounced in full, Chatterji thinks that the word *aspaṣṭa* in Vararuci's sūtra means 'indistinct' which is found in Mahārāṣṭrī and Śaurasenī and such an indistinct pronunciation could not mean a dental-affricate one as Grierson thinks but rather an elided pronunciation in Mahārāṣṭrī and Śaurasenī which has been pointed out by Basanta Kumar Chatterjee.⁹

The necessity of formulating a sūtra where the pronunciation of Māgadhī palatal is indicated is to point out the difference of treatment of palatal sounds in Māgadhī on one hand and Māhārāṣṭrī and Śaurasenī on the other. In standard Prakrit, intervocally these are sometimes elided and naturally the pronunciation of *c-varga* could not be understood or heard. But in Māgadhī, this is not elided but rather pronounced distinctly (in the opinion of Vr. who has used the word *spaṣṭatā*) or as palatal affricate in the opinion of Kramadīśvara, Puruṣottama, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya therefore two sets of pronunciations some dialects using one and others the other.

(To Continue)

References :

1. S.R. Banerjee, Was *R* dental in Śanskrit ? pp. 14-19, has said that *r* was not cerebral originally. BDCPL, Vol. X, 1985.
2. Siddheshwar Varma, critical studies in the phonetic observations of Indian grammarians, (1st. edition 1929), Indian reprint edition, Munshi Ram Manoharlal, Delhi, 1961. p. 126.
3. Vedic Variants II : Phonetics p. 100-101.
4. The article is based on the following : Lassen Institutiones Linguae Pracriticae, p. 397, Hoernle Gd Grr p. 8, Pischel. Gram. D. Pkt, Spr. 217, Basanta Kumar Chatterjee, *ca-vargīya varṇa samūher uccāraṇa* Vsdp, 1323 B.S. (=1913 A.D.) pp. 201-03, G.A. Grierson JRAS, 1913, ff 391, S.K. Chatterji ODBL, 132, p.246.
5. For the editions of prakrit grammarians such as Hemacandra, Trivikrama, Lakṣmīdhara, Simuarāja, Kramadīśvara, Puruṣottama, Rāma Tarkavāgīśa and Mārkaṇḍeya see the Bibliography.
6. Prākṛtādhyāya of Kramadīśvara, ed. by S.R. Banerjee, Prakrit Text Society, Ahmedabad, 1980, Introduction, p. 21
7. G.A. Grierson—The Bṛhatkathā in Mārkaṇḍeya, JRAS, 1913.
8. Suniti Kumar Chatterji, Origin and Development of Bengali Language, University of Calcutta, Calcutta, 1926, 132, p. 246
9. Basanta Kumar Chatterjee, *ca-vargīya varṇa samūher uccāraṇ*, VSPdp, 1320 B.S. (=1913 A.D.), pp. 201-03



जैन विश्व भारती, लाडनूं

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

वाचना प्रमुख : आचार्यश्री तुलसी, विवेचक तथा सम्पादक : युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

आगम ग्रंथ :

१. अंगसुत्ताणि १ (आयारो, सूयगडो, ठाणं, समवाओ)	६५.००
२. अंगसुत्ताणि २ (भगवई : विआहपण्णत्ती)	६०.००
३. अंगसुत्ताणि ३ (णायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अंतगडदसाओ, गणुत्तरोववाइयदसाओ, पण्हावागरणाइ, विवागसूयं)	६०.००
४. नवसुत्ताणि (आवस्सयं, दसवेआलियं, उत्तरज्झयणाणि, नंदी, अणुओगदाराइ, दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीहज्झयणं) पृ० १३००	२५०.००
५. उवंगसुत्ताणि, खण्ड १ (ओवाइयं, रायपसेणियं, जीवाजीवाभिगमे)	२००.००
६. उवंगसुत्ताणि, खण्ड २	२५०.००
७. भगवती-जोड़, भाग-१	१३०.००
८. भगवती-जोड़, भाग-२	१७०.००
९. दसवेआलियं (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६१२ साइज डिमाई १/४	१२५.००
१०. ठाणं पृष्ठ १२०० " "	१७०.००
११. आयारो—मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद तथा टिप्पण	५०.००
१२. समवाओ (द्वादशांगी का चतुर्थ अंग) पृष्ठ ४६८. साइज डिमाई १/४	१५०.००
१३. सूयगडो-१ (द्वादशांगी का द्वितीय अंग) पृष्ठ ७००, साइज डिमाई १/४	२००.००
१४. सूयगडो-२	१५०.००
१५. आगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि शब्दसूची) खण्ड १, भाग १ (नेट)	१२०.००
१६. देशी शब्दकोश, (लगभग १४००० देशी शब्द सहित), पृ० ६३८	१००-००
१७. निरुक्त कोश, सम्पादक : साध्वी सिद्धप्रज्ञा एवं साध्वी निर्वाणश्री	६०-००
१८. एकार्थक कोश, सम्पादक : समणी कुसुमप्रज्ञा	७०-००

आगमेतर ग्रंथ

१. Illuminator of Jaina Tenets— Acharya Tulsi Eng. Trans.—Dr. N.M. Tatia and Muni Mahendra Kumar	१५०.००
२. भगवान् महावीर—आचार्य तुलसी	५.००
३. श्रमण महावीर—युवाचार्य महाप्रज्ञ	३०.००
४. 50 Years of Selfless Dedication	१५.००
५. जैन धर्म के प्रभावक आचार्य—साध्वी संघमित्रा	५०.००
६. पाइअ संगहो, संकलनकर्ता : मुनि विमलकुमार	२०-००
७. तुलसी मञ्जरी (प्राकृत व्याकरण), : युवाचार्य महाप्रज्ञ,	५०-००

— : प्राप्ति-स्थान : —

Jain Vishva Bharati, Ladnun (Raj.) 341306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग, संयोजक, प्रेस-पत्र-प्रचार-प्रकाशन, जैन विश्व भारती, लाडनूं, द्वारा जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं में मुद्रित ।